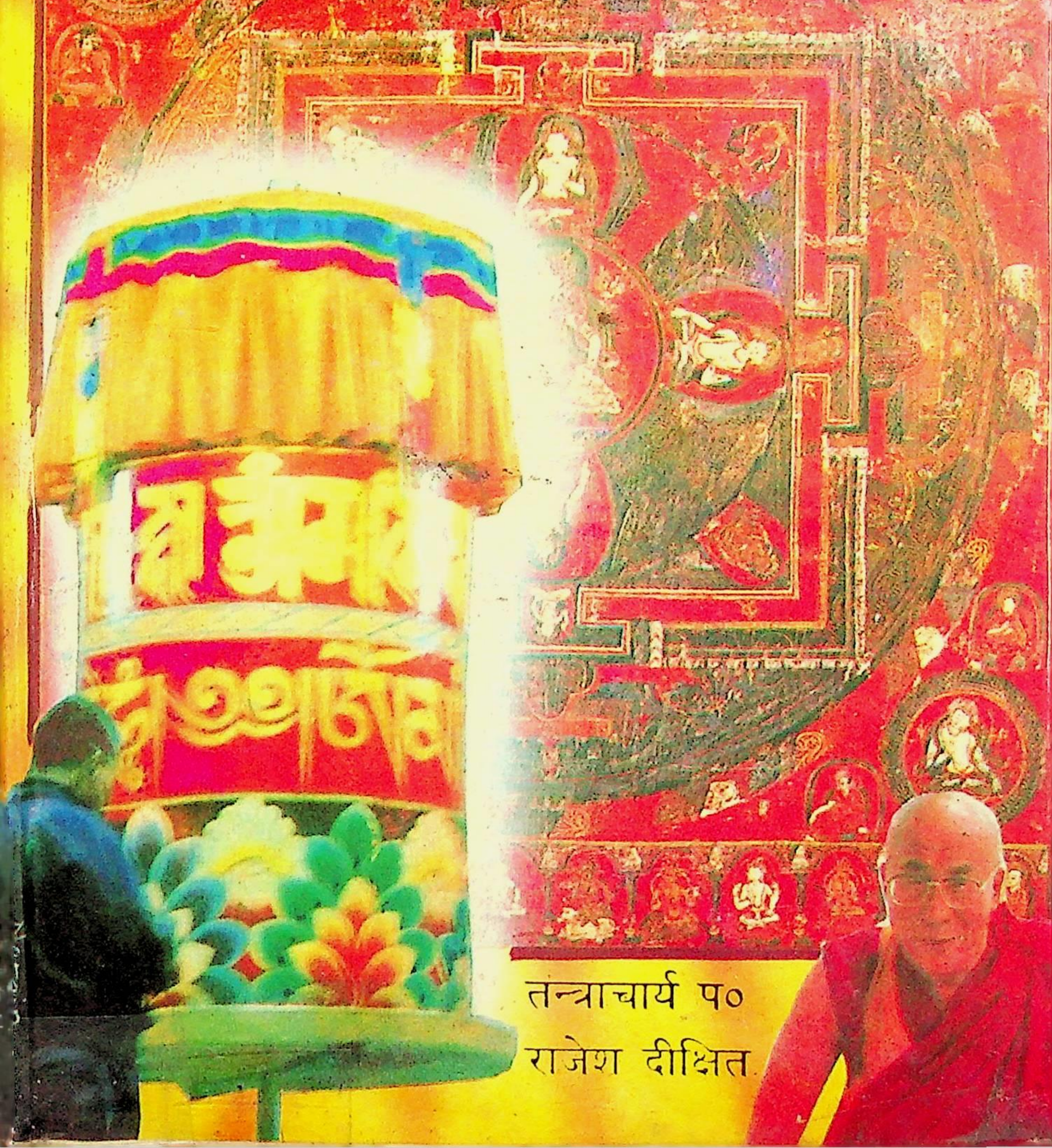
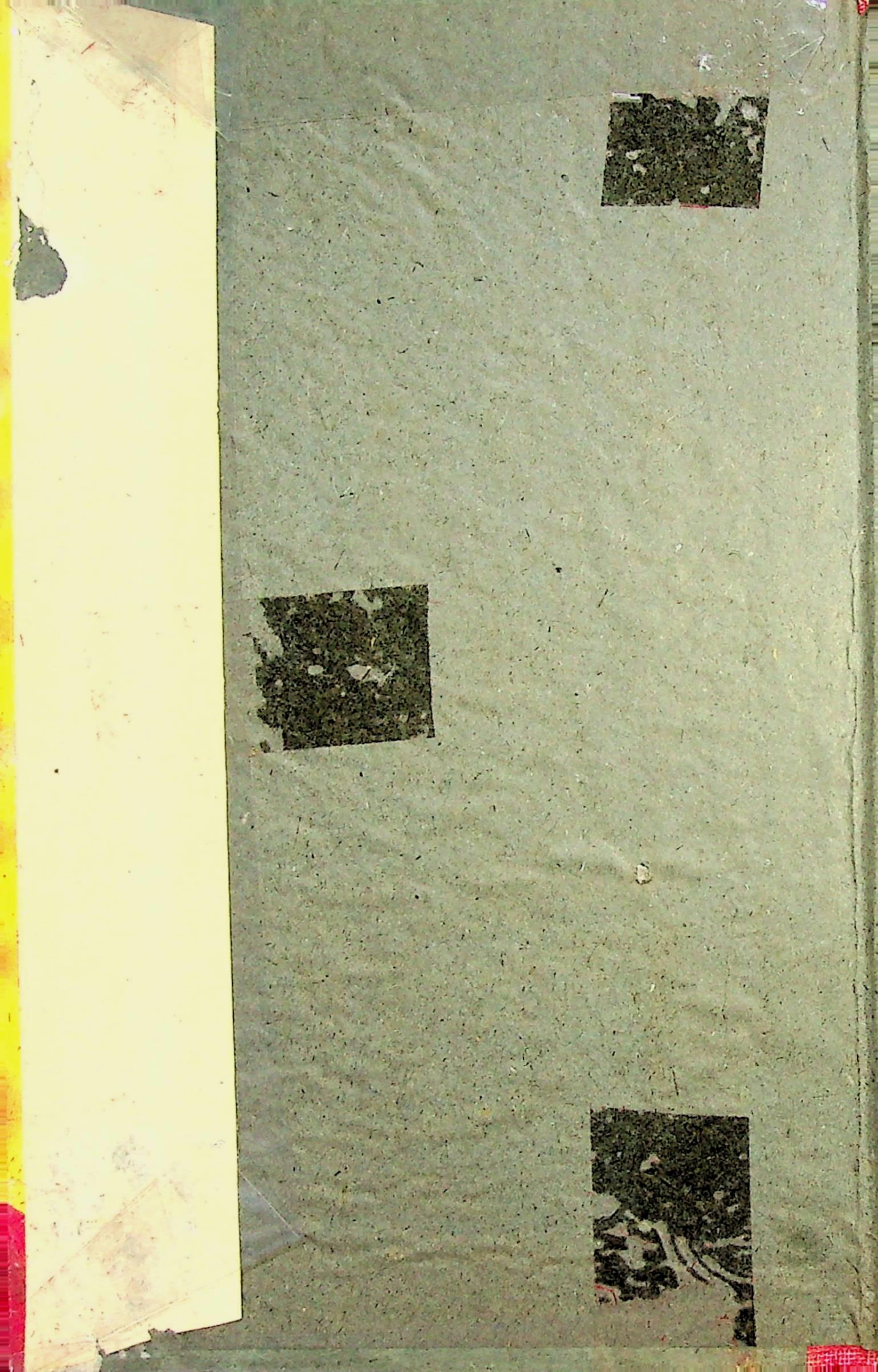
बौद्ध तन्त्र शास्त्र



तन्त्राचार्य प०
राजेश दीक्षित



卐 ॐ मणिपद्मे हुँ 卐

बौद्ध तन्त्र शास्त्र

{बौद्ध धर्म एवं तन्त्र-साधना से सम्बन्धित हिन्दी का
पहला प्रामाणिक संकलन}

लेखक

विद्या वारिधि, दैवज्ञ वृहस्पति
तन्त्राचार्य पं. राजेश दीक्षित
(विश्व में सर्वाधिक प्रकाशित ग्रन्थों के सुप्रसिद्ध लेखक)
(गिनीज बुक आफ वर्डरिकार्ड में नामांकित)

प्रकाशक

दीप पब्लिकेशन

अस्पताल मार्ग, आगरा–३

प्रकाशक:

दीप पब्लिकेशन

कंचन मार्केट, अस्पताल मार्ग

आगरा–३

लेखक/सम्पादक

आचार्य पं. राजेश दीक्षित

संस्करण

१९९५ ई.

Rates:75/-

कम्प्यूटर टाइप सैटिंग

क्लासिक प्रिंटर्स, देहली गेट, आगरा–२, फोन:५३३०१

हेरूकारे महाकरुणा वज्रं प्रज्ञा च भण्यते।
प्रज्ञोपायात्मकं मन्त्रं तन्मे निगदितं श्रृणु।।

लामना प्रज्ञा स्वभावेन रसनोपाय संस्थिता।
अवधूती मध्य देशे तु ग्राह्या ग्राहक वर्जिता।।

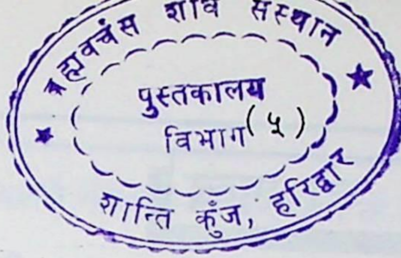
अक्षोभ्यावहा ललना रसना रक्तवाहिनी।
प्रज्ञाचन्द्रवहाख्याताववधूती सा प्रकीर्तिता।।

एकारे लोचनादेवी वंकारे मामकी स्मृता।
मकारेण पाण्डुरा च याकारे तारिणी स्मृता।।

कृपाचार्य विद्यावारिधि पं. राजेश दीक्षित द्वारा सम्पादित
हमारे तन्त्र विषयक
उच्च कोटि के प्रकाशन

१. हिन्दू तन्त्र शास्त्र
२. इस्लामी तन्त्र शास्त्र
३. जैन तन्त्र शास्त्र
४. बौद्ध तन्त्र शास्त्र
५. शावर तन्त्र शास्त्र
६. काली तन्त्र शास्त्र
७. तारा तन्त्र शास्त्र
८. षोड्शी तन्त्र शास्त्र
९. भुवनेश्वरी छिन्नमस्ता तन्त्र शास्त्र
१०. भैरवी धूमावती तन्त्र शास्त्र
११. मातंगी बगलामुखी तन्त्र शास्त्र
१२. कमलात्मिका तन्त्र शास्त्र
१३. तान्त्रिक मुद्रा विज्ञान
१४. सम्पूर्ण दस महाविद्या तन्त्र शास्त्र

दीप पब्लिकेशन
अस्पताल मार्ग, आगरा–३



समर्पण

अपने परम आत्मीय, साहित्यानुरागी
श्री राम प्रसाद 'कमल' एडवोकेट
(सदस्यः उ. प्र. विधान परिषद्)
को सस्नेह

दो शब्द

- भगवान बुद्ध अनीश्वरवादी थे। उनकी मान्यता थी कि सत्य के परमतत्त्व को पाने के बाद मनुष्य स्वयं सम्बुद्ध (दूसरे शब्दों में ईश्वर) हो जाता है। उनके समय में तान्त्रिक सिद्धियों का प्रचलन तो था परन्तु वे स्वयं उन्हें मुक्ति–मार्ग में बाधक मानते थे, अतः उन्होंने अपने श्रावकों, शिष्यों तथा भिक्षुओं को इन सबसे दूर रहने का उपदेश दिया था।

- एक मान्यता यह भी है कि महात्मा बुद्ध को तन्त्र का ज्ञान था, परन्तु वे उसे बुद्धि–वाचक तथा अन्तिम साधना के रूप में स्वीकार करते थे। भौतिक–साधना के लिए तन्त्र का प्रयोग उन्हें मान्य नहीं था। यों बौद्ध धर्म में पुनर्जन्म की कल्पना पाई जाती है। बुद्ध के भी अनेक अवतारों का वर्णन मिलता है। जातक–कथाओं में तो बुद्ध अनेक प्रकार के पशु– पक्षियों के रूप में भी अवतरित हुए हैं। सम्भवतः इसी कारण बुद्ध ने निर्माण–प्राप्ति के लिए अन्तिम साधना के रूप में तन्त्र को महत्वपूर्ण माना होगा, यद्यपि इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता कि उन्होंने कभी तान्त्रिक –साधना भी की थी।

- बुद्ध ने ६ वर्ष तक कठिन तपस्या की थी, तदुपरान्त 'टस टिक' द्वार उनका देव–मण्डल में प्रवेश हुआ। तभी से उन्हें तन्त्र में भी प्रविष्ट माना जाता है, परन्तु तन्त्र उनके लिए मात्र साधना का ही एक रूप बना रहा। उनके कथनानुसार तन्त्र की साधना तो की जा सकती है, परन्तु दैहिक– जीवन की उपलब्धि के लिए उसका उपयोग नहीं किया जाना चाहिए। यथार्थ में तन्त्र–साधक जब एक विशिष्ट –स्थिति में पहुंच जाता है, तब वह मानसिक रूप से परिपक्व होकर बुद्ध की साधना करने में अधिक सक्षम बन जाता है। निर्वाण की आकांक्षा तथा बुद्धत्व–प्राप्ति में तन्त्र–साधन को सहायक माना गया

है, बशर्ते भौतिक–उपलब्धियों के लिए उनका प्रयोग न किया गया हो।

- त्रिपिटक अथवा बुद्ध के समकालीन किसी भी ग्रथ में तन्त्रादि का संकेत नहीं मिलता। 'ब्रह्मजाल सूक्त' के अनुसार बुद्ध के समय में अनेक गुह्य–क्रियाओं का प्रचलन था, परन्तु बुद्ध उनके समर्थक नहीं थे। सिद्धियों तथा चमत्कारों के पीछे दौड़ने वालों की वे भर्त्सना किया करते थे।

- बुद्ध के विभिन्न आसनों तथा विशिष्ट मुद्राओं को रहस्यमय रूप माना जाता है। स्तूम, रहस्यमय बौद्ध मण्डल के प्रति श्रद्धा एवं बोधि–वृक्ष की परिक्रमा के विवरण प्राचीन बौद्ध धर्मग्रन्थों में पाये जाते हैं। उन्हीं के आधार पर बौद्ध धर्म के सभी तिब्बती स्रोत मत–भिन्नता रखते हुए भी यह स्वीकार करते हैं कि भगवान् बुद्ध ने कभी–न–कभी किसी न किसी रूप में इन साधनाओं का उपदेश भी अवश्य किया होगा। साधन माला तथा 'गुह्य साधन तन्त्र' जैसे ग्रन्थों के अनुसार भगवान् बुद्ध ने 'दीपंकर' के रूप में प्रकट होकर चीन अथवा महाचीन में रहते समय इन क्रियाओं अथवा साधनाओं का उपदेश किया था।

- भगवान् बुद्ध ने गृहदकूट नामक पर्वत पर 'सर्द्धमपुण्डरीक' नामक वैपुल्य सूत्र का उपदेश किया था। उस समय वे देवताओं, बुद्धों, बोधि सत्वों, देवियों तथा भिक्षु–भिक्षुणियों आदि से अवृत्त थे। उस समय उनकी पूजा की गई थी, तत्पश्चात् उन्होंने अनन्त निर्देश प्रतिष्ठान नामक समाधि धारण की थी। समाधि धारण करते ही वहाँ दिव्य–पुष्पों की वर्षा हुई तथा अनेक प्रकार की चमत्कारपूर्ण सिद्धियाँ भी प्रकट हुई। उस समय भगवान की भौंहों के मध्यभाग से एक ऐसी किरण प्रस्फुटित हुई जो पूर्व दिशा में १८ हजार बुद्ध–क्षेत्रों में फैल गई। उस समय कुमारभूत मंजुशी ने भगवान् के महोसदेश की भूमिका

प्रस्तुत की, तदुपरान्त भगवान् ने वैपुल्य सूत्र सद्धर्मपुण्डरीक का उपदेश किया। यह कथा भी बौद्ध–धर्म में तान्त्रिकता के प्रवेश का आभास देती है।

- भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के उपरान्त लगभग ५०० वर्ष बाद बौद्ध धर्म की कठोर तथा शुष्क साधनाओं के बन्धनों के प्रति विद्रोह की भावनाएं जन्म ले उठी, जिसके फलस्वरूप बुद्ध–धर्म – (१) महायान तथा (२) हीनयान इन दो शाखाओं में बँट गया। 'हीनयान' शाखा के अन्तर्गत पुरातन परम्परावादी साधक बने रहे तथा – महायान' के अन्तर्गत नवीनतावादी आधुनिक विचारधारा के लोग संगठित हुए। महायान ने जन–गण को आकर्षित करने के लिए अनेक उपसमुदायों तथा अनेक बौद्धिसत्वों की कल्पना को जन्म दिया, फलतः अनीश्वरवादी बौद्धधर्म में प्रच्छन्नरूप से अवतारवाद ने प्रवेश पा लिया। इसके साथ ही तत्कालीन शाक्त एवं शैव्य धर्म में प्रचलित चमत्कारों, ध्यान, धरणी, यन्त्र, समाधि, मूर्तिपूजा आदि तान्त्रिक क्रियाएँ भी उसकी साधना का अंग बनगईं। सामान्य–जन का चूँकि चमत्कारों एवं सिद्धियों के प्रति स्वाभाविक आकर्षण रहता है, अतः महायान के इस नवीन रूप का बड़ी तेजी से विस्तार हुआ। जिसके फलस्वरूप तिब्बत, जापान, कोरिया तथा मलेशिया आदि बौद्ध धर्मप्रधान देशों में तन्त्र साधना विशेषरूप से प्रचलित हुई।

- तिब्बत में तन्त्र का प्रारम्भ सातवीं शताब्दी के अन्त से माना जाता है। चौदहवें दलाईलामा के भारत–पलायन से पूर्व वहाँ तन्त्र विषयक साधन, अनुशीलन तथा अध्ययन के अनेक केन्द्र विधिवत् चल रहे थे। परन्तु अब तिब्बत की स्थिति में परिवर्तन आजाने से वहाँ तन्त्र–साधन में भी अवरोध उत्पन्न हो गया है। यही स्थिति मंगोलिया की भी है। अलवत्ता, जापान, कोरिया तथा मलेशिया में आंशिकरूप से तन्त्र–साधना अभी भी चलती रहती है।

- बौद्धधर्म में तन्त्र की परम्परा आचार्य पद्मसंभव से मानी जाती है। तिब्बत के तत्कालीन सम्राट् ढिसुंन दिसेंन ने इसके प्रचार प्रसार में बहुत योग दिया। उन्होंने आचार्य शान्ति रक्षित को जो बंगाल में रहते थे, तिब्बत बुलाया और अपने यहाँ उन्हें बौद्ध धर्म का प्रचार करने को कहा। उस समय तिब्बत का मूलधर्म 'बोन' (बोण) था बोन धर्म में लिखित साहित्य नहीं था परन्तु सूर्य, वायु, आकाश आदि प्राकृतिक प्रतीकों की पूजा करने बलि देने तथा चमत्कार, जादू–टोना आदि की क्रियाएँ प्रचलित थी। आचार्य शान्ति रक्षित को जब बोन–साधकों द्वारा कठिनाई का अनुभव हुआ तब सम्राट द्वारा आचार्य पद्मसंभव को बुलाया गया। वे तीन वर्णों तक तिब्बत में रहे। उन्होंने सभी बोन–साधकों को अपने बस में कर लिया, फलतः तिब्बत में बौद्धधर्म के प्रचार प्रसार में उन्हें अत्यधिक सफलता भी मिली।

- भगवान् बुद्ध ने तन्त्र का विरोध किया अथवा नहीं, यह अलग बात है, परन्तु सातवीं शताब्दी से अबतक बौद्धधर्म में तन्त्र की प्रधानता चली आरही है। विशेषकर तिब्बत बौद्ध तन्त्र का पर्याय बनगया है–तथा बौद्ध धर्मानुयायी, जिनमें महायानियों की संख्या अधिक है तान्त्रिक क्रिया कलापों में सबसे आगे पाये जाते है।

- प्रस्तुत पुस्तक में भगवान् बुद्ध के जीवनवृत्ति से आरम्भकर बौद्ध धर्म में तन्त्र के उद्भव, प्रचार–प्रसार तथा उसके क्रिया–कलाप, साधना, मन्त्र आदि विषयों से संबन्धित सामग्री को संकलित किया गया है। हिन्दी पाठकों को बौद्ध–तन्त्र से परिचित कराने का संभवतः यह पहला प्रयास है। हमें आशा है कि इस विषय की जानकारी प्राप्त करने के आकांक्षियों के लिए यह पुस्तक उपयोगी सिद्ध होगी।

जिन सूत्रों से सामग्री – संकलन में सहायता प्राप्त हुई है उन सभी के प्रति हम हृदय से आभारी हैं।

विषय सूची

क91862

१

वज्राचार्य दलाई लामा

केवल तिब्बती ही नहीं विश्वभर के बौद्ध धर्मावलम्बियों में दलाई लामा को बौद्धधर्म का सर्वोपरी शास्ता माना जाता है। दलाईलामा एक परम्परा है। सामान्यतः जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, लामा शब्द का अर्थ शोणिताहारी भयंकर व्यक्ति है। परन्तु परम्परा में 'लामा' शब्द का प्रयोग सिद्ध योगी के पर्याय के रूप में किया जाता है। दलाईलामा को बौद्ध–सिद्ध योगयों में सर्वोच्च स्थान प्राप्त है।

दलाईलामा को वज्राचार्य (दूसरे शब्दों में भगवान् बुद्ध का अवतार अथवा प्रतिनिधि) माना जाता है। वे साधक अथवा सिद्ध होते हैं– यह कहना वर्जित है, परन्तु प्रमुख आचार्य के रूप में उनका स्थान निर्विवाद है। जैसाकि पूर्व में कहा जा चुका है, बौद्धधर्म में तन्त्र का प्रचलन सातवीं शताब्दी के बाद हुआ था। तथापि दलाईलामा परम्परा में तन्त्र को भी स्थान दिया गया है यद्यपि यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक दलाईलामा तन्त्रज्ञ भी हो। वर्तमान दलाईलामा पूर्ण तान्त्रिक भी हैं। यह चौदहवें दलाईलामा हैं।

प्रथम दलाईलामा तथा वर्तमान चौदहवें दलाईलामा एक ही चित्र–संतत के हैं। निर्वाण की स्थिति में चित्र–संतत नष्ट होता है। आठ बोध सत्वों के बाद दलाईलामा प्रकाश में आते हैं।

पहले दलाईलामा ८२ वर्ष की आयु तक जीवित रहे थे। पाँचवें ५७ वर्ष, सातवें ५० वर्ष तथा तेरहवें ५६–५७ वर्ष जीवित रहे। शेष दलाई लामा ४० वर्ष से अधिक आयु प्राप्त नहीं कर सके। वर्तमान दलाईलामा का जन्म ६ जुलाई १९३४ ई. को हुआ था। इस समय वे ६१वीं वर्ष में चल

रहे हैं जिस समय तिब्बत पर चीन ने अधिकार किया था। उस समय उसने वर्तमान दलाईलामा तथा उनके सहयोगियों को वन्दी बनाने की पूरी तैयारी करली थी। हर ओर चीनी सैनिकों का घेरा था। तिब्बती परम्परा में दलाईलामा के बाद दूसरा स्थान प्राप्त धर्मगुरु पणछेन लामा को तो उन्होंने अपनी गिरफ्त में ले भी लिया था, परन्तु दलाईलामा को वे बन्दी नहीं बना सके। ऐसी मान्यता है कि तिब्बत से भारत के लिए प्रस्थान करते समय दलाईलामा ने अपनी तान्त्रिक–शक्ति का प्रयोग किया था, जिसके फलस्वरूप जिन मार्गों में होते हुए वे तिब्बत से भारत के लिए चले, उन सभी में ऐसा गहरा अंधकार कुहरा छा गया कि चीनी सैनिक उन्हें किसी भी प्रकार तिब्बत छोड़ते हुए देख ही नहीं पाये और वे अपने सभी सहयोगियों के साथ सकुशल भारत में आ पहुँचे। यहाँ तत्कालीन प्रधानमन्त्री स्व. जबाहरलाल नेहरू ने उन्हें सम्मानित आचार्यों के रूप में आवास दिया जिसके फलस्वरूप तब से अब तक वे और उनके अनुयायी सुखपूर्वक भारत में ही निवास कर रहे हैं।

दलाईलामा स्वयं जन्म लेते रहते हैं अर्थात् एक दलाईलामा के परीनिर्वाण के बाद दूसरे दलाईलामा के रूप में वे स्वयं ही अवतरित होते हैं। प्रायः ऐसा माना जाता है कि पहले दलाईलामा अपने महाप्रयाण के समय अपनी आध्यात्मिक शक्ति से कुछ ऐसा संकेत दे जाते हैं जिसके आधार पर नये दलाईलामा की खोज की जाती है। यदि कोई पूर्व संकेत न मिला हो तो इस खोज में निम्नलिखित उपायों का आश्रय लियाजाता है–

तिब्बत में एक विशेष स्थान की ऊँचाई पर एक सरोबर है, जिसमें पारदर्शी जल भरा रहता है। नये दलाईलामा की खोज करने वाले साधकगण् उस सरोवर के तट पर बैठकर साधना करते हैं जिसके फलस्वरूप उन्हें उस सरोवर के जल में एक प्रतिबिम्ब दिखाई देता है। वह प्रतिविम्ब एक आकृति के रूप में बदलजाता है, जो नये दलाईलामा

की होती है। इतना ही नहीं उसमें नये दलाईलामा के माता–पिता की आकृतियाँ भी दिखाई देती हैं, तत्पश्चात् कोई गाँव दिखाई पड़ता है गाँव के दृश्य के साथ ही कुछ अक्षर भी उभरते हैं। इन संकेतों से साधकगण पहले जल में उभरे अक्षरों के आधार पर गाँव की खोज करते हैं फिर वहाँ माता–पिता को ढूँढ़ लेने के बाद उनके पुत्र अर्थात् नये दलाईलामा की परीक्षा करते हैं। परीक्षा में उत्तीर्ण बालक को नया दलाईलामा स्वीकार कर लिया जाता है।

परीक्षा के लिए बालक के सामने पूर्वदलाईलामा के उपयोग में आने वाली माला, छड़ी, पुस्तक, घड़ी, डमरू आदि सोलह असली वस्तुयें रखी जाती हैं उनके साथ ही वैसी ही नकली वस्तुएँ रखी जाती हैं, तत्पश्चात् बालक से कहा जाता है कि वह उन असली नकली वस्तुओं में जो असली हों उन्हें उठाकर दिखाये। जो बालक सभी असली वस्तुओं को उठाकर अलग रख देता है, वही परीक्षा में सफल माना जाता है। वर्तमान दलाईलामा ने १६ में से १५ वस्तुएँ असली उठाई थीं तथा सोलहवीं वस्तु के रूप में असली तथा नकली दोनों छड़ियाँ उठाली थीं। परन्तु बाद में यह ज्ञात हुआ कि दूसरी छड़ी भी नकली नहीं थी, बल्कि वह भी तेरहवें दलाईलामा के उपयोग में असली रही थी, अतः उसकी पहिचान भी ठीक मानी गई फलतः वर्तमान दलाईलामा का निर्वाचन संभव हो गया।

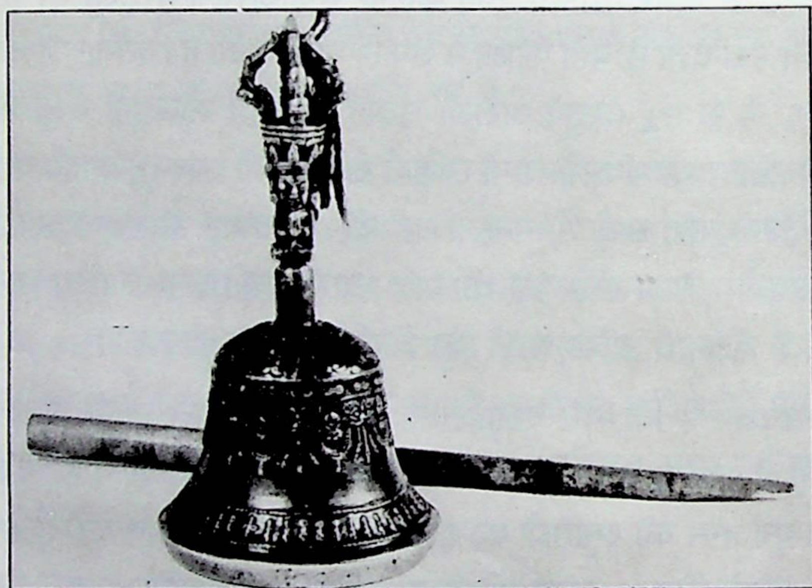
मान्यता है कि नये दलाईलामा को अपने पिछले जन्मों की याद भी रहती है, परन्तु वह जीवनभर नहीं रहती। वाल्यावस्था में ही कुछ वर्षों बाद पूर्वजन्म की स्मृतियों का लोप हो जाता है। वर्तमान दलाईलामा को अब अपने पिछले जन्मों की याद नहीं है, परन्तु कहाजाता है कि जब ये ३ वर्ष तक के थे, तब इन्हें भी अपने पूर्वजन्मों की याद थी। इनके सम्बन्ध में एक घटना यह भी कही जाती है कि जब ये तीन वर्ष के थे, उस समय इनके सामने एक दल लाया गया तथा उनके नेता को नौकर के कपड़े पहना दिये गये। जब इनसे नेता की पहिचान करने को कहा

गया, तब इन्होंने उस नेता जैसे कपड़े पहने हुए व्यक्ति को छोड़ कर उस असली नेता की ठीक–ठीक पहिंचान करली जो भिन्न प्रकार के कपड़े पहने हुए था।

दलाईलामा की इस परम्परा का भविष्य क्या होगा– यह प्रश्न अभी अनुत्तरित ही कहा जा सकता है हालांकि दलाईलामा के सहयोगियों को यह विश्वास है कि तिब्बत पर दलाईलामा का प्रभुत्व पुनः स्थापित होगा।

****

Meditation bell, handle worked with vajra motif and face of the Bodhisattva Avalokiteśvara, whose rim rubbed with the stick produces a continuous hum. Tibet, c. 1800. Silver with bronze h. 7 (18)



२

महात्मा बुद्ध

सिद्धार्थ से बुद्ध

आज से लगभग २६०० वर्ष पहले की बात है– हिमालय की तराई में 'कपिलवस्तु' नामक एक छोटा सा राज्य था। वहाँ के इक्ष्वाकुवंशी राजा का नाम 'शुद्धोदन' था। उस राज्य की प्रजा धन–धान्य से परिपूर्ण तथा सब प्रकार से सुखी थी। राजा शुद्धोदन की अनेक रानियाँ थीं। सबसे बड़ी पटरानी का नाम 'महामाया' था। उससे छोटी रानी 'प्रजापति' थी। इन दोनों में सगी बहिनों से भी अधिक प्रेम था।

एक समय महारानी महामाया बैशाख शुक्ला पूर्णिमा की चाँदनी रात्रि में अपनी सखियों के साथ वन–विहार हेतु नगर के बाहर 'लुम्बिनी' नामक बन में गईं। उस समय वे गर्भवती थीं और प्रसव–काल भी अत्यन्त सन्निकट था। अस्तु जब वे एक शाल–वृक्ष के नीचे विश्राम के लिए बैठी तो वहीं प्रसव–वेदना भी प्रारम्भ हो गई। कुछ देर बाद उसी वृक्ष के नीचे उन्होंने एक अत्यन्त सुन्दर बालक को जन्म दिया। पुत्र–जन्म का समाचार मिलते ही महाराज शुद्धोदन अत्यन्त प्रसन्न हुए। महारानी को महल में लाने के बाद जब उन्होंने ब्राह्मणों तथा मुनियों को बुलाकर बालक के भविष्य के विषय में पूछा, तो उन्होंने बताया "यह बालक अत्यन्त सौभाग्यशाली है। यह बड़ा होकर या तो चक्रवर्ती सम्राट होगा अथवा सन्यासी बनकर संसार में अपने नवीन धर्म–चक्र का प्रवर्तन कर परमयशस्वी बनेगा।"

ब्राह्मणों के मुख से निकले इन शब्दों को सुनकर राजा शुद्धोदन बड़े चिन्तित हुए। "आगे चलकर बालक सन्यासी न बने" इस हेतु उन्होंने

उसके चारों और राजसी–वैभव तथा सब प्रकार के सुखों की व्यवस्था करदी बालक का नाम –"सर्वार्थ–सिद्धि" रखा गया, परन्तु लोग उन्हें 'सिद्धार्थ कहकर पुकारने लगे; अतः यही नाम प्रचलित हो गया।

महारानी महामाया 'सिद्धार्थ' को जन्म देने के बाद सातवें दिन ही परलोक वासिनी हो गई। मृत्यु से पूर्व उन्होंने सिद्धार्थ को छोटी रानी प्रजापति को सौंपते हुए उनसे बालक के लालन–पालन करने का वचन ले लिया। रानी प्रजापति ने भी सिद्धार्थ का पालन–पोषण अत्यन्त स्नेहपूर्वक किया, फलतः वह शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा की भाँति दिन–प्रतिदिन बढ़ता चला गया। कुमार सिद्धार्थ को राजनीति, धनुर्विद्या, घुड़सवारी, शस्त्र–चालन आदि के साथ–साथ अन्य विषयों की शिक्षाऐं देने की भी व्यवस्था की गई थी। कुमार उन सब में पारंगत होते चले गये। परन्तु इस सब के बावजूद भी वे प्रायः एकान्त–सेवन में ही रूचि रखते थे तथा वन–उपवन आदि स्थानों में वृक्षों के नीचे बैठकर आध्यात्मिक–चिन्तन किया करते थे।

सिद्धार्थ की सांसारिकता से विरक्ति के समाचार से राजा शुद्धोदन अत्यन्त चिन्तित बने रहते थे। इधर कुमार की आयु जब विवाह योग्य हो गई तब उन्होंने उसे विवाह–बन्धन में बाँध देने का विचार किया। वे समझते थे कि गृहस्थी के बन्धन में बँधकर सिद्धार्थ सन्यास की ओर से विमुख हो जायेगा।

समय पाकर शाक्य वंशीय दण्डपाणि सुप्रबुद्ध की सर्वांग सुन्दरी कन्या "यशोधरा' के साथ राजकुमार सिद्धार्थ का विवाह हो गया। यशोधरा जब कुल–वधू बनकर कपिलवस्तु के राजमहल में आई तो महाराजा ने नव–दम्पति की सुख–सुविधा के सभी साधन एकत्र करा दिए। राजकुमार भी उनका यत्किंचित् उपभोग करने लगे। कालान्तर में यशोधरा ने एक सुन्दर पुत्र को जन्म दिया। पौत्र–जन्म के समाचार से महाराज शुद्धोदन

को जो प्रसन्नता हुई उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। ढ़ेरों रत्न–आभूषण लुटाये गये। याचकों को महाधनी बना दिया गया। बालक का नाम रखा गया ''राहुल''।

एक रात्रि में राजकुमार सिद्धार्थ की आँख अचानक ही खुल गई। उस समय उन्होंने महल की सोती हुई दासियों को देखा। उनमें से किसी के मुँह से लार बह रही थी तो कुछ अन्य प्रकार की अस्त–व्यस्त अवस्थाओं में पड़ी कुरूप दिखाई दे रही थीं। उन्हें देखकर राजकुमार के मन में विरक्ति के भाव और अधिक दृढ़ हो गये। वे सोचने लगे यह सौन्दर्य आदि तो सब कुछ छलावा है। यथार्थ में शरीर हाड़–माँस के पिण्ड के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

एक दिन राजकुमार भ्रमण को गये तो उन्होंने एक वृद्ध रोगी मनुष्य को देखा, दूसरी बार एक मृतक की शव–यात्रा देखी। इन सभी दृश्यों का सिद्धार्थ के मन पर बड़ा दुष्प्रभाव पड़ा और वे सोचने लग– ''यह संसार रोग, शोक, दुःख, संकट तथा मृत्यु का घर है। मुझे इन सबसे छुटकारा दिलाने वाले मार्ग की खोज करनी चाहिए। मैं मृत्यु को जीतूँगा और सांसारिक दुःखों पर विजय प्राप्त करूँगा।

महाभिनिष्क्रमण

एक दिन आधी रात के समय जबकि यशोधरा अपने पुत्र राहुल को छाती से लगाये गहरी नींद में सो रही थी। राजकुमार सिद्धार्थ की आँख अचानक खुल गई। उसी समय उन्होंने संसार –त्यागने का दृढ़ निश्चय कर लिया था। उन्होंने सोती हुई यशोधरा उर्फ ''गोपा'' तथा पुत्र राहुल पर एक स्नेहपूर्ण दृष्टि डाली। उनकी आँखों से आँसू बहने लगे, परन्तु उसी क्षण उन्होंने स्वयं को संयत भी कर लिया। वे धीमे–पगों से बाहर निकले और राजमहल के द्वार पर पहुँचकर ''छन्दक'' नामक सेवक को एक घोड़ा लाने की आज्ञा दी। आज्ञानुसार छन्दक राजकुमार के लिए

एक घोड़ा ले आया। राजकुमार उस पर सवार हो गये तो छन्दक भी उनके पीछे-पीछे पैदल चलने लगा। नदी के दूसरे तट पर पहुँचने के बाद सिद्धार्थ ने छन्दक से कहा "अब तुम इस घोड़े को लेकर राजधानी लोट जाओ, साथ ही मेरे इन रत्नाभूषण-वस्त्रादि को भी ले जाओ।"

यह कहकर उन्होंने अपने सभी वस्त्राभूषण उतार दिये, तदुपरान्त तलवार की धार से अपने घुँघराले केशों को भी काट डाला। फिर घोड़ा, तलवार तथा वस्त्राभूषण आदि छन्दक को सौंपते हुए बोले- "मैं सत्य की खोज में जा रहा हूँ। उसे प्राप्त करने के बाद ही किसी दिन पुनः लौटूँगा। तुम महाराज तथा यशोधरा आदि को धैर्य बँधा देना"।

छन्दक यह सुनकर हतप्रभ रह गया, रोने लगा; परन्तु सिद्धार्थ इतना क़हकर शीघ्रतापूर्वक आगे बढ़ गये। छन्दक ने राजधानी में लौटकर जब सिद्धार्थ के गृह-त्याग का समाचार महाराज, यशोधरा तथा अन्य लोगों को दिया तो वे सभी अत्याधिक शोकाकुल हो गये। राजभवन तथा राजधानी में सर्वत्र कुहराम मच गया।

महाराज शुद्धोदन को अत्यधिक व्याकुल देखकर सुयोग्य मंत्री तथा राज-पुरोहित ने जब राजकुमार सिद्धार्थ को ढूँढ़ लाने की आज्ञा माँगी, तो शुद्धोदन ने उनसे बिना विलम्ब किए चले जाने को कहा। तब वे राजकुमार को ढूँढ़ने के लिए बन की ओर चल दिये।

उधर राजकुमार सिद्धार्थ गृह-त्याग के पश्चात् एक सप्ताह तक उसी क्षेत्र के अनूपिया आम्रवन में रहे, तदुपरान्त दक्षिण-पूर्व की ओर "राजगृह" की ओर चल पड़े। मार्ग में उन्हें तीन आश्रम मिले, जिनमें तपस्वी लोग अत्यधिक कष्टपूर्ण कठोर-तपस्या करते हुए जीवन बिता रहे थे। राजकुमार ने जब उनसे ऐसी तपस्या करने का उद्देश्य पूछा तो एक तपस्वी ने उन्हें सम्बोधित करते हुए यह कहा- "यदि तुम मोक्ष पाना चाहते हो तो विन्ध्य कोष्ठ नामक स्थान में 'अराड़-मुनि' के आश्रम में जाओ"।

'सिद्धार्थ यह सुनकर आगे बढ़ गये।



सिद्धार्थ वनों में भ्रमण करते हुए भार्गव–आश्रम से आगे चलकर एक वृक्ष के नीचे बैठे हुए थे कि घुड़सवार राजमंत्री तथा राजपुरोहित भी वहाँ जा पहुँचे। उन दोनों ने महाराज शुद्धोदन तथा यशोधरा आदि के दुःख का वर्णन करते हुए उन्होंने अपनी ओर से भी पुनः कपिलवस्तु लौट चलने के लिए बहुत अनुनय–विनय की, परन्तु सिद्धार्थ अपने निश्चय से टस से मस न हुए। अन्ततः उन्होंने समझा–बुझाकर उन दोनों को विदा कर दिया।

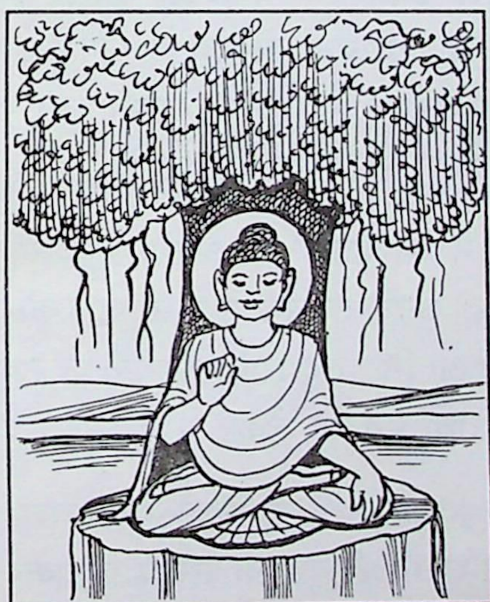
सन्यासी भेषधारी सिद्धार्थ वहाँ से चलकर "राजगृह" नगरी में पहुचे। वहाँ के सम्राट बिम्बसार को जब उनके आगमन की सूचना मिली तो वे स्वयं उस वृक्ष के नीचे गये, जहाँ सिद्धार्थ गम्भीर–मुद्रा में बैठे हुए थे। राजा बिम्बसार ने पहले तो उनसे संसार में पुनः लौट आने का आग्रह किया, परन्तु जब उन्होंने सिद्धार्थ द्वारा दिए गये उपदेश को सुना तो वे उनकी प्रशंसा करते हुए बोले– "हे महात्मन्! जब आप पूर्ण बुद्धत्व प्राप्त करलें, तब मुझे भी अपना शिष्य बना लीजिएगा"।

राजगृह से चलकर सिद्धार्थ "अलार कलाम" के आश्रम में पहुँचे। हिरण्यवती नदी के पट पर स्थित उनके आश्रम में तीन सौ शिष्य रहते थे। वे मुनि सांख्यमत के अनुयायी थे। सिद्धार्थ ने कुछ समय उस आश्रम में रहकर सांख्य–मत का अध्ययन किया, परन्तु उनकी जिज्ञासा फिर भी शान्त न हुई। तब वे 'आराड' तथा 'उदरक' के आश्रम में गये। वहाँ उन्होंने मुनियों से कर्म–फल, आत्मवाद तथा मुक्ति आदि के सम्ब्रन्ध में अनेक प्रश्न पूछे; परन्तु उत्तरों से सन्तुष्टि नहीं मिली। तब वे और आगे बढ़ गए तथा "विल्व–वन" नामक उस स्थान में जा पहुँचे, जहाँ– १. कौण्डिन्य, २. कण्व, ३. भद्दिप, ४. महानाम तथा ५. अश्वजित् नामक पाँच तपस्वी कठोर तपस्या कर रहे थे। वहाँ पहुँचकर शिद्धार्थ ने भी तप करना आरम्भ कर दिया। निराहार रहने के कारण उनका शरीर अत्यन्त क्षींण होगया। जब वे मृत प्राय हो गये, और फिर भी शान्ति नहीं मिली, तब उन्होंने सोचा कि व्रत तथा उपवास भी मिथ्या है। जब शरीर ही नहीं रहेगा, तब तपस्या कैसे चलेगी? यह विचार कर उन्होंने भिक्षा ग्रहण करना आरम्भ कर दिया, जिसके फलस्वरूप शरीर पुनः स्वस्थ हो गया। यह देखकर उन पाँचों तपस्वियों ने सोचा कि सिद्धार्थ तप–भ्रष्ट, लोभी तथा पथ–भ्रष्ट हो गया है। अतः वे पाँचों उनका साथ छोड़कर अन्यत्र चले गये। तदुपरान्त सिद्धार्थ भी वहाँ से काशी की ओर चल पड़े।

'उर बेला' के सेनानी–कुल में उत्पन्न "सुजाता" नामक सुन्दरी ने एक बरगद के वृक्ष से यह मनौती की थी कि यदि मेरे पुत्र उत्पन्न हुआ तो मैं तुम्हारी पूजा करूँगी। संयोग से उसने पुत्र को ही जन्म दिया। तब उसने पहले एक हजार गायों को यष्टि–मधु के बन में चरने के लिए भेजा, फिर उनका दूध पाँच सौ गायों को पिलाया। फिर उन पाँचसौ गायों का दूध ढ़ाई सौ गायों को पिलाया, फिर ढ़ाई सौ गायों का दूध सौ गायों को पिलाया। सौ गायों का दूध सोलह को तथा सोलह का दूध आठ गायों को पिलाया। तदुपरान्त वैसाख पूर्णिमा को ब्रह्म मुहूर्त में उसने उन आठ

गायों के दूध की खीर स्वयं बनाई तथा उसे लेकर उस बरगद के वृक्ष के पास गई तो देखा कि वहाँ वृक्ष की जड़ से पीठ लगाये एक परम–तेजस्वी व्यक्ति बैठा है। सुजाता ने समझा–वृक्ष देवता साकार रूप में उपस्थित हो गये हैं। अतः उसने अत्यन्त श्रद्धा तथा स्नेहपूर्वक वह खीर उनके समक्ष उपस्थित करदी। वृक्ष–देवता और कोई नहीं 'सिद्धार्थ' ही थे, जो उस वृक्ष के नीचे आ बैठे थे। सुजाता की खीर को ग्रहण करते हुए सिद्धार्थ ने पवित्र स्वरों में कहा – "हे देवी! तुम्हारी खीर सत्य की खोज में सहायक सिद्ध होगी। तुम्हारा कल्याण हो।"

सुजाता प्रणाम तथा प्रदक्षिणा करने के बाद अपने घर लौट गई। सिद्धार्थ खीर का पात्र लेकर निरंजना नदी के तट पर पहुँचे। वहाँ उन्होंने खीर का सेवन करने के बाद पात्र को नदी की धारा में प्रवाहित कर दिया। तदुपरान्त वे कुछ दिनों तक नदी–तटवर्ती शाल–वन में रहे। फिर एक दिन संध्या के समय बोधि–वृक्ष के नीचे जा पहुँचे और वहीं घास के आसन पर बैठ, वृक्ष के तने से पीठ लगा, यह निश्चय करके ध्यानस्थ हो गए कि "जब तक मुझे सम्यक्–बोध प्राप्त नहीं होगा, तब तक मैं इस स्थान से नहीं हटूँगा।"



सम्यक बुद्धत्व की प्राप्ति

एक सप्ताह तक वे असीम–आनन्द में मग्न होकर वहीं बैठे रहे। इसी अवधि में उन्हें 'सम्यक्–बोध' भी प्राप्त हुआ। तब वे वहाँ से उठकर एक बरगद के वृक्ष के नीचे जाकर एक सप्ताह तक बैठे रहे। इस समय तक वे 'पूर्ण बुद्ध' हो चुके थे। अतः वे सिद्धार्थ के स्थान पर "गौतम बुद्ध" बने। सिद्धार्थ को पालने वाली विमाता प्रजापति को "गौतमी" भी कहा जाता था, अतः गौतमी–पुत्र होने के कारण सिद्धार्थ को "गौतम" की संज्ञा भी प्राप्त हुई थी। बुद्धत्व प्राप्त कर लेने के बाद वे "गौतम बुद्ध" कहे जाने लगे।

बुद्धत्व प्राप्त हो जाने पर गौतम ने अपने प्राप्त–ज्ञान को संसार में वितरित करने का निश्चय किया। सर्वप्रथम उनके समीप "तमस्सुक" तथा "मल्लिक" नामक दो व्यापारी मट्ठा तथा मधुपिण्ड लेकर पहुँचे। गौतम ने धर्मोपदेश कर उन्हें अपना प्रथम शिष्य मान लिया। एक सप्ताह बाद वे पुनः बरगद के वृक्ष के नीचे पहुँच कर विहार करने लगे। उन्हें इच्छा हुई कि वे लोगों को सत्य की जानकारी कराने के लिए ज्ञानोपदेश करें। इसी उद्देश्य से वे क्रमशः 'अलार कलाम' के पास गये, परन्तु तब तक उनका शरीरान्त होचुका था। फिर उन्होंने उन पंचवर्गीय तपस्वियों का पता लगाया, जो उन्हें छोड़कर चले गये थे, तो यह ज्ञात हुआ कि वे श्रषिपत्तन में विहार कर रहे हैं।

मार्ग में 'आजीवक' को अपना अनुयायी बनाते हुये जब वे श्रषिपत्तन में पहुँचे तो उनके तेजस्वी मुख–मण्डल को देखते ही पंचवर्गीय भिक्षु उनके चरणों में आ गिरे, तदुपरान्त भगवान् के उपदेश को सुनकर उनके शिष्य भी बने तथा प्रव्रज्या लेकर वे बुद्ध–धर्म के अनुयायी बन गए।

इन्ही दिनों काशी के श्रेष्ठी–पुत्र "यश" के मन में वैराग्य का उदय हुआ, तो उसने भी बुद्ध के समीप पहुँचकर प्रव्रज्या लेली। यश के पिता

जब पुत्र को वापिस लाने के लिए बुद्ध के पास गए तो वे स्वयं भी उनके उपदेशों से ऐसे प्रभावित हुए कि उन्होंने अपनी पत्नी तथा पुत्र–वधू सहित बुद्ध–धर्म को स्वीकार कर लिया। दो दिन बाद यश के मित्रों ने भी बुद्ध के पास जाकर उनका शिष्यत्व ग्रहण किया। इस प्रकार उस समय तक 'अर्हत' अर्थात 'बुद्ध' के शिष्यों की संख्या ग्यारह हो गई।

महात्मा बुद्ध ने अपने शिष्यों को अलग–अलग दिशाओं में जाकर धर्मोपदेश करने तथा जो लोग बुद्ध की शिक्षाओं को स्वीकार करें, उन्हें प्रव्रज्या तथा 'उप–सम्पदा' देने की आज्ञा दी तथा स्वयं जटिल सम्प्रदाय के प्रसिद्ध स्थान "पुरूबेला" जा पहुँचे।

जटिल–सम्प्रदाय के लोग सिर पर जटा रखते तथा अग्नि की पूजा करते थे। उनके आचार्य का नाम "काश्यप" था। बुद्ध ने वहाँ जाकर एक रात अग्निशाला में ठहरने की अनुमति चाही। काश्यप ने कहा– यज्ञशाला में तो एक महाविषधर सर्प रहता है। बुद्ध बोले– "मुझे वह कोई हानि नहीं पहुँचायेगा"। काश्यप ने आज्ञा देदी। बुद्ध ने अग्निशाला में रात्रि विश्राम किया। प्रातःकाल सब लोगों ने देखा कि बुद्ध ध्यानस्थ बैठे हुए हैं तथा सर्प उनके सामने कुण्डली मारे शान्त खड़ा है। इस दृश्य को देखकर सब लोग आश्चर्यचकित रह गये तथा बुद्ध को वहीं रहने की अनुमति देदी। कुछ ही दिनों में बुद्ध के उपदेशों से प्रभावित होकर काश्यप ने पाँच सौ जटाधारियों सहित प्रव्रज्या लेकर बुद्ध का शिष्यत्व ग्रहण कर लिया।

इसके बाद महात्मा बुद्ध ने राजगृह जाकर सम्राट बिम्बसार, उसकी रानियों, पुत्रों तथा परिजनों को बौद्ध–धर्म में दीक्षित किया। राजग्रह में ही 'संजय' नामक एक परिव्राजक के आश्रम में दो सौ पचास परिव्राजक रहते थे। उनमें 'सारिपुत्र' तथा 'मोग्मलायन' ये दोनों प्रधान संन्यासी थे। बुद्ध के उपदेशों से प्रभावित होकर उन्होंने अपने सभी साथियों सहित उनका

शिष्यत्व ग्रहण कर लिया। महात्मा बुद्ध ने इन दोंनों को अपना प्रधान शिष्य बनाकर बुद्ध–धर्म प्रचार का दायित्व सौंपा। उन्होंने आगे चलकर बौद्ध–धर्म के प्रचार में अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया।

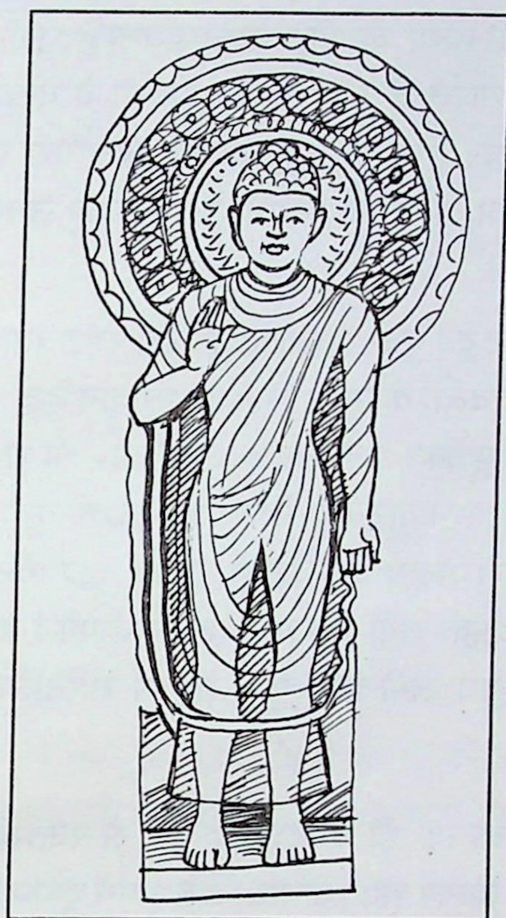
मगध के 'महातीर्थ' नामक एक गाँव में 'कपिल' नामक एक ब्राह्मण रहता था। उसका "पिप्पली" नामक एक पुत्र था। जिसका विवाह "भद्रा" नामक एक अत्यन्त सुन्दरी कन्या के साथ हुआ था। उसने भी सपत्नीक प्रव्रज्या लेकर बुद्ध का शिष्यत्व ग्रहण कर लिया।

कपिलवस्तु-आगमन

बुद्धत्व–प्राप्ति के सात वर्ष बाद भगवान बुद्ध ने अपने जन्मस्थान 'कपिलवस्तु' में पहुँचे। राजा शुद्धोदन वृद्ध हो चुके थे। एक लम्बे अन्तराल के बाद अपने पुत्र को लौटा हुआ देखकर उनके आनन्द की सीमा न रही। महात्मा–बुद्ध ने अपने प्रमुख शिष्यों सहित कुछ दिन कपिलवस्तु में प्रवास कर, राजपरिवार तथा अन्य लोगों को भी धर्मोपदेश किया। फलतः राजा शुद्धोदन, उनकी सभी रानियों, पुत्रों, परिवारीजनों तथा सिद्धार्थ की पत्नी यशोधरा एवं पुत्र राहुल आदि सभी ने बुद्ध का शिष्यत्व ग्रहण कर लिया। कपिलवस्तु के बाद महात्मा बुद्ध 'अनूपिया' के 'आम्रवन' में गये। वहाँ के अधिकांश कुलीन–शाक्य तथा 'शाक्यराज भद्दिप' सहित अन्य अनेक लोग भी उनके शिष्य बनगये। श्रावस्ती के परमधनी श्रेष्ठि "अनाथ पिण्डक" ने भगवान के विहार हेतु "जेत वन" की व्यवस्था की तथा स्वयं प्रव्रज्या भी ग्रहण की।

एक समय भगवान् न्यग्रोधारम्भ में विहार कर रहे थे। वहाँ उनकी विमाता गौतमी ने पहुँचकर उन्हें प्रव्रज्या देने की प्रार्थना की। इससे पूर्व तक किसी स्त्री को प्रव्रज्या नहीं दी गई थी, परन्तु विमाता की प्रार्थना को बुद्ध ने अपने भाई "आनन्द" के कहने पर स्वीकार कर लिया। उस दिन से बुद्ध–धर्म में भिक्षुओं के साथ भिक्षुणियाँ भी सम्मिलित की जाने लगीं। इस

समय तक भगवान् ने सभी जातियों को प्रव्रज्या ग्रहण करने का अधिकार दे दिया था।



भगवान् बुद्ध ने अपने बाद आनन्द को प्रथम उपदेष्टा का पद दिया। "समी पुत्र" तथा "मौद्गल्यायन" बुद्ध–धर्म के मुख्य–प्रचारक बने।

महात्मा बुद्ध का प्रभाव निरन्तर बढ़ता चला जा रहा था। उनके शिष्यों की संख्या हजारों में हो गई। यह देखकर अन्य मतावलम्बियों ने उनके विरुद्ध षड़यन्त्र रचने तथा भाँति–भाँति के आरोप लगाकर बदनाम करने के प्रयत्न भी किये; परन्तु अन्ततः उन सभी को हार माननी पड़ी। "अंगुलिमाल" जैसा महा भयानक डाकू भी बुद्ध की शरण में पहुँचकर

निष्पाप बन गया। उसने प्रव्रज्या ग्रहण कर सभी को आश्चर्यचकित कर दिया।

भगवान् बुद्ध की हत्या के भी अनेक षड़यन्त्र हुए। एकबार कुछ शस्त्र-धारियों को उन्हें मारने के लिए भेजा गया तो वे देखते ही शस्त्र–त्याग कर उनके पाँवों पर गिर पड़े। दूसरी बार नीलगिरी नामक एक खूँखार हाथी को भेजा गया तो वह भी अपनी सूँड़ उठाकर उनके चरणों के समीप जा बैठा।

राजा बिम्बसार का पुत्र "अजातशत्रु" बुद्ध से शत्रुता मानता था। उसने बुद्ध के शिष्य 'देवदत्त' के साथ मिलकर भगवान बुद्ध की हत्या के अनेक षड़यन्त्र रचे थे। पूर्वोक्त षड़यन्त्रों के आयोजक भी ये ही थे। देवदत्त ने बुद्ध का शिष्यत्व ग्रहण कर संघ में फूट डालने की कुचेष्टा भी की। सैकड़ों भिक्षुओं को संघ से अलग कर देने में भी वह कुछ दिनों तक सफल रहा, परन्तु अन्ततः उसके सभी षड़यन्त्रों का भण्डाफोड़ हो गया तथा उसके द्वारा बरगलाये गये सभी भिक्षु पुनः संघ में सम्मिलित हो गये।

महानिर्वाण

एक दिन अचानक ही देवदत्त के मुँह से रक्तस्राव होने लगा। वह कई महीनों तक बीमार रहा। अन्ततः उसे अपने दुष्कर्मों पर बड़ा पश्चाताप भी हुआ। उन दिनों भगवान् बुद्ध जेतवन में बिहार कर रहे थे। देवदत्त ने उनके दर्शनों की इच्छा प्रकट की। भिक्षुगण उसे चारपाई पर लिटाकर जेतवन को ले चले, परन्तु जेतवन की पुष्करिणी के समीप उसकी मृत्यु हो गई। वह बुद्ध के दर्शन नहीं कर सका।

कुछ समय बाद सारिपुत्त को अपनी मृत्यु का आभास हुआ। उसने तथागत से अपने गाँव जाने की आज्ञा माँगी। आज्ञा मिल गई। सारिपुत्त मगध के 'नालक' ग्राम में जन्में थे। वहाँ पहुँचकर ही उन्होंने अपने प्राण विसर्जित किये। उनकी अस्थियों को भगवान् बुद्ध ने सारनाथ के बुद्ध–स्तूप

में रखवा दिया। जहाँ वे आज तक रखी हुई हैं।

भगवान् का दूसरा प्रमुख शिष्य 'मोग्गलायन' था, जो बौद्ध—धर्म का प्रचार करते हुए चारों ओर भ्रमण करता रहता था। 'तीर्थक' भगवान् बुद्ध और उनके शिष्यों की लोकप्रियता से जल कर उन्हें हानि पहुँचाने का प्रयास किया करते थे। एक दिन उन्होंने मोग्गलायन को अकेला पाकर जंगल में घेर लिया और पत्थर मार—मार कर उसकी हत्या करदी। भिक्षुओं को जब यह खबर मिली तो वे उसके शव को जंगल से उठा लाये तथा अन्तिम—संस्कार करने के बाद उसकी अस्थियों को भी बुद्धजी के पास पहुँचा दिया।

एक बार भगवान् वैशाली पहुँचे, वहाँ उन्होंने अम्बपालिका ('आम्रपाली)' के वन में विहार किया। अम्बपाली वैशाली की प्रमुख गणिका थी, जिसे 'वैशाली की नगरवधू' भी कहा जाता था। वह संध्या से कुछ पूर्व भगवान् के पास पहुँची और उनसे भोजन करने हेतु घर पधारने की प्रार्थना की। बुद्धजी ने उसकी प्रार्थना स्वीकार करली, क्योंकि उनके यहाँ ऊँच—नीच का कोई भेद नहीं था। भगवान् के संघ सहित घर पहुँचने से अम्बपाली धन्य होगई। उसने अपना वह वन भिक्षु—संघ को दान कर दिया।

वर्षा—ऋतु में बुद्धजी भिक्षु—संघ के साथ वेणुग्राम में गये। उस समय उनकी आयु ८० वर्ष की हो चुकी थी। उन्हें अपनी मृत्यु का आभास हो गया था, अतः उन्होंने अपने शिष्य आनन्द से कहा— "आनन्द"! अब हम यहाँ से "चापाल—चैल" चलेंगे।

आनन्द सब कुछ समझ गया था। कुछ देर बाद वे झण्डु ग्राम की ओर चल पड़े। दूसरे दिन वहाँ से भी अम्ब ग्राम, जम्बू ग्राम आदि स्थानों पर उपदेश करते हुए पावा नगरी में जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने सोनार के आम्रवन में विहार किया। सोनार के घर भोजन करने के थोड़ी देर बाद ही उनके मुँह से रक्तस्राव होने लगा। तब उन्होंने आनन्द से "कुशी नगर"

चलने को कहा। आनन्द उन्हें लेकर कुशी नगर चल पड़े। भिक्षु–संघ भी पीछे–पीछे चल रहा था। मार्ग में उन्होंने कुछ देर रुक कर विश्राम करने तथा पानी पीने की इच्छा प्रकट की। आनन्द समीप ही बहने वाली 'कुकत्या' नामक नदी से जल भरकर ले आये। पानी पीकर मन को जब कुछ शान्ति मिली तो भगवान् ने नदी में स्नान करने की इच्छा प्रकट की। स्नानोपरान्त वे सभी लोगों के साथ शालवन में गये। और वहीं अपनी दिव्य–मुस्कान विखेरते हुये परि–निर्वाण पद को प्राप्त हुए।



३

बौद्ध-धर्म का अभ्युदय

भगवान् बुद्ध के आविर्भाव से पूर्व भारत में अनेक धर्म–सम्प्रदाय प्रचलित थे। उनमें जप, तप, योग, ध्यान, व्रत, कर्मकाण्ड आदि की अनेक विधियाँ थीं। तपस्या के अनेक रूप थे, जैसे– निराहार रहना, शरीर को पंचाग्नि में तपाकर कष्ट देना आदि। इसी भाँति यज्ञ तथा देव–पूजन आदि कृत्यों में अनेक प्रकार के पशु–पक्षियों की बलि देकर जीव–हिंसा भी की जाती थी। एक ओर जहाँ ॠषि–मुनि तपस्वी तथा कठोर संयमी जीवन बिताते थे, वहीं कर्मकाण्डी लोग पूजा–पाठ आदि के माध्यम से प्राप्त होने वाली दान–दक्षिणा को अपनी आय का साधन बनाये हुए थे। जाति–पाँति, ऊँच–नीच, छुआछूत आदि का भी समाजं में अत्यधिक प्रचलन था।

स्त्रियों को समाज में "दासी" का पद प्राप्त था। उनकी भौतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग अवरुद्ध थे। काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, वासना तथा अहंकार का बोलबाला था। प्रत्येक व्यक्ति स्वयं को दूसरे से बड़ा समझता था। कुलीन–वर्ग के लोग दीन–दरिद्र, अस्पृश्य तथा दुर्बल लोगों पर मनमाने अत्याचार करते थे। धर्म, स्वर्ग, नरक आदि का भय खड़ा करके चतुर लोग सामान्यजनों का शोषण एवं दोहन किया करते थे।

भौतिक सम्पन्नता के लिए कोई भी दुष्कर्म कर बैठना एक सामान्य सी बात हो गई थी। आचार–विचार तथा अधिकार आदि ने विभिन्न वर्गों में भिन्नताएँ उत्पन्न करदी थीं। एक प्रकार से देश भर में सामाजिक–अराजकता फैली हुई थी। भगवान बुद्ध ने इन सबके

निराकरण हेतु सत्य की खोज का संकल्प लिया। उन्होंने तपस्याएँ भी कीं तथा चिन्तन भी किया। अन्ततः वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि अविद्या से संस्कार, संस्कार से विज्ञान, विज्ञान से नाम–रूप, नाम–रूप से छःआयतन, छःआयतन से स्पर्श, स्पर्श से वेदना, वेदना से तृष्णा, तृष्णा से उपादान, उपादान से भव, भव से जन्म एवं जन्म से शोक–दुःख, खेद, जरा, व्याधि तथा मुत्यु आदि विकारों का जन्म होता है। यह संसार केवल दुःखों का भण्डागार है। अविद्या का नाश होने पर क्रमशः संस्कार, विज्ञान आदि का नाश संभव है। धर्म से अलिप्त, सर्वत्यागी, तृष्णा–विहीन व्यक्ति ही 'बुद्ध' हो सकता है। मन का मैल दूर हो जाने पर ही यथार्थ धर्म की किरणें हृदय में प्रस्फुटित होती हैं।

महात्मा बुद्ध के उपदेश

बुद्ध ने कहा– "अप्रियजनों का संयोग तथा प्रियजनों का वियोग, जन्म, मृत्यु आधि–व्याधि ये सभी दुःख हैं। रूप, संज्ञा तथा संस्कार दुःख के उपादान–स्कन्ध हैं। दुःख एक सत्य–विकार है। सम्यक्–दृष्टि, संकल्प, वचन, कर्म, जीविका, व्यायाम, स्मृति और समाधि– यह अष्टांगिक मध्य–मार्ग दुःखों से निवृत्ति दिलाता है। दुःख समुदय तथा दुःख–निशेष– ये ही आर्य– सत्य हैं। प्रव्रज्या लेने वालों को अनार्थ, अर्थ पूरति वासनाओं तथा क्लेश का त्याग कर देना चाहिए। धर्म एक गम्भीर तत्व है। सत्य के प्रति अविचंल निष्ठा ही सच्चा धर्म है। दुःख दूर करने के लिए ब्रह्मचर्य व्रत धारण करना चाहिए। यथार्थ सुख, स्वार्थ एवं विषय–भोगों में नहीं है। वह तो कृत्रिमता तथा आडम्बर को दूर करने में ही है।

सत्य की खोज में सफल हो जाने पर ही सिद्धार्थ 'बुद्ध' कहलाये। उन्होंने अपने शिष्यों को ब्रह्मचर्य धारण करने तथा उप–सम्पदा के रूप में सिर तथा दाढ़ी के बाल मुँडवाकर काषाय वस्त्र पहनने तथा बुद्ध–धर्म एवं संघ की शरण में जाने का उपदेश किया। बुद्ध–धर्म की

दीक्षा को "प्रव्रज्या" नाम दिया गया। प्रव्रज्या लेने वाले पुरुष "भिक्षु" तथा स्त्रियां "भिक्षुणी" नाम से सम्बोधित की गईं। स्थान–स्थान पर भिक्षु तथा भिक्षुणियों के लिए सामूहिक आवास तथा संघारामों की व्यवस्था की गई। सभी के लिए तीन नारे आविष्कृत किये गये—

बुद्धं शरणं गच्छामि।
धम्मं शरणं गच्छामि।
संघं शरणं गच्छामि।

बुद्ध–धर्म की दीक्षा में शिष्यों को वज्रासन से बैठा कर, इन्हीं तीन वाक्यों के साथ प्रतिज्ञा क़राई जाती है।

भगवान् बुद्ध के मतानुसार – 'जिस प्रकार माता अपनी सन्तान के लिए प्रतिपल आत्म–बलिदान करती रहती है, उसी प्रकार सत्य के ज्ञाता विवेकी–मनुष्य को सदैव शुद्ध–हृदय से पररहित की कामना करनी चाहिये। यह भावना जितनी अधिक दृढ़ होगी, निर्वाण–पद उतना ही अधिक निकट आयेगा। 'मिथ्या अहं' समस्त क्लेशों–संकटों का मूल है, परन्तु जो व्यक्ति अपने अर्हतस्वरूप को जानता है तथा यह समझता है कि "इन्द्रियाँ अपने–अपने कामों को किस प्रकार करती हैं तथा उन्हें क्या करना और क्या नहीं करना चाहिये" –वह स्वार्थ तथा अहंकार के चक्कर में न पड़कर अभय–शक्ति प्राप्त करता है। जो धर्म, राग, आकांक्षा, असंतोष, अनुद्योग, जन्म आदि से ग्रसितं हो, वह पूर्ण धर्म नहीं है।

बुद्ध का उपदेश है– 'जो लोग निन्दा, जय–पराजय, आघात–प्रतिघात आदि की भावना रखते हैं, उनकी सभी से शत्रुता बनी रहती है। भावनाहीन व्यक्ति ही द्वेषभाव से परिपूर्ण होता है। नम्र तथा धीर–वीर पुरूषों को सभी विवाद त्याग कर, सभी से मित्रता करनी चाहिये। ऊँच–नीच का भेदभाव करना निरर्थक है। हत्या, पाप एवं दुराचार आदि दोषों से सभी वर्णों के लोग एक समान ही नरकगामी होते हैं। अतः स्वयं को उच्च वर्णका

समझकर अहंकार करना असत्य–व्यवहार है। जाति, गोत्र, पद आदि का घमण्ड रखने वालों को चरम–सम्पदा की उपलब्धि नहीं होती। सभी विकारों को कूड़े के ढेर में फैंक कर ही मन शुद्ध होता है। जो सत्य, नित्य तथा वैज्ञानिक है, उसी को चरम समझना चाहिये। श्रुत, परम्परा, मत, तर्क, पिटक, रूप, न्याय, चमत्कार आदि पर विश्वास नहीं करना चाहिये। जब स्वयं यह विश्वास हो जाय कि अमुक धर्म ग्रहण करने योग्य, दोष–रहित तथा हितकर है, तो उसे ग्रहण कर लेना चाहिये। दूसरों के कहने अथवा सुनी हुई बातों अथवा कुतर्कों के बल पर जिसे सिद्ध किया जाय, उसे नहीं मानना चाहिये। तुम्हारी बुद्धि जिसे मानने के लिए गवाही दे, वही सच्चा धर्म है।

ब्राह्मणों की श्रेष्ठता के विषय में उन्होंने कहा– 'प्राचीन काल में ब्राह्मण संयत–आत्मा वाले, त्यागी, निर्लोभ, तपस्वी, ब्रह्मज्ञानी, ब्रह्मचारी तथा सभी लोगों को एक समान अच्छी और सच्ची शिक्षाएँ देने वाले होते थे, उनके आचरण पवित्र तथ अनुकरणीय थे। अतः सब लोग उन्हें श्रद्धा–सम्मान तथा भक्ति देते थे। वे वस्तुतः सर्वाधिक वन्दनीय तथा पूजनीय थे। परन्तु कालान्तर में वे त्यागी की जगह भ्रष्ट–वृत्ति बन गये। वे दान के रूप में धन, रत्न, पशु, वस्त्र, अलंकृत–स्त्रियाँ, भवन, रथ, वाहन आदि को ग्रहण करने लगे; फलतः वे अपने कर्तव्य–कर्म को भूलकर विलासी, पतित तथा स्वार्थी बन गये। उन्होंने विभिन्न प्रकार के यज्ञों तथा कर्मकाण्डों के नाम पर राजा, महाराजा तथा सम्पन्न लोगों को ठगना आरम्भ कर दिया। धन अपने साथ विविध प्रकार का कष्ट तथा अनाचार लेकर भी आता है। धन का आश्रय पाकर वे ब्राह्मण भी अन्य सामान्य लोगों जैसे ही अनाचारी, विलासी तथा भ्रष्ट बन गये। इसी कारण उनका सम्मान भी समाप्त होगया। गोत्र, वंश, जटा, शिखा अथवा यज्ञोपवीत धारण करलेने से ही कोई 'ब्राह्मण' नहीं हो जाता। सत्य, धर्म, अनुशासन तथा श्रेष्ठ आचरणों का पालन करने वाला ही सच्चा ब्राह्मण है। जो सभी लोगों को

सत्य धर्म का मार्ग दिखाये वही प्रशंसनीय है, वही आदरणीय है और वही ब्राह्मण है। अपनी अन्तर्ज्योति ही सच्ची ज्योति है। धर्म जलाशय के समान है। शील को उसका घाट समझना चाहिये। सज्जनता ही उस जल की निर्मलता है। ज्ञानीजन ऐसे ही जल में स्नान करते हैं। बुद्धि सदैव सत्य–मार्ग का अनुसरण करती रहे– यही मानव–जीवन की चरम उपलब्धि है।

भगवान ने यह भी कहा–"योवन में बृद्धत्व, आरोग्य में रोग तथा जीवन में मृत्यु सन्निहित है। शान्तजीवी होने पर भी मृत्यु किसी को नहीं छोड़ती। अतः सत्य की डोर पकड़कर हमें निर्विकार भाव से जीवन–यापन करना चाहिये।"

भगवान बुद्ध के ऐसे तर्क–पूर्ण, तथापि सरल उपदशों का तात्कालिक जन–जीवन पर ऐसा व्यापक प्रभाव पड़ा कि उनके जीवन–काल में ही लाखों स्त्री–पुरुष बौद्ध–धर्म के अनुयायी बन गये। सम्राटों से लेकर जन–साधारण तक उनके शिष्य थे। अनेक स्थानों पर बौद्ध–विहारों तथा संधारामों की स्थापना हुई। बुद्ध के शिष्यों ने देश के अतिरिक्त विदेशों में भी बौद्ध–धर्म का व्यापक प्रचार किया। इतिहास प्रसिद्ध सम्राट–अशोक ने बौद्ध–धर्म के प्रसार के लिए भगीरथ प्रयत्न किये थे। उसने अपने पुत्र–पुत्रियों को भी इस धर्म का प्रचार करने हेतु बाहरी देशों में भेजा था। कालान्तर में यह धर्म भारत, लंका, वर्मा, चीन, जापान, कम्बोडिया, जावा, सुमात्रा, वाली आदि अनेक राष्ट्रों का राज–धर्म भी बना। इतना ही नहीं हिन्दुओं ने भी भगवान् बुद्ध को विष्णु के तेईसवें अवतार के रूप में मान्यता प्रदान की। बाद में जगद्गुरु शंकराचार्य ने जन्म लेकर तथा अपने समय के सुप्रसिद्ध बौद्ध–विद्वानों को शास्त्रार्थ में पराजित कर, भारत में पुनः सनातन धर्म की सर्वोच्चता प्रतिष्ठित की। तदापि, आज भी संसार के अनेक देश तथा उनमें रहने वाले करोंड़ों स्त्री–पुरुष बौद्ध–धर्म के अनुयायी हैं। भारत में जैन–धर्म की भाँति बौद्ध–धर्म को भी हिन्दू–धर्म की एक मुख्य

शाखा के रूप में ही स्वीकार किया जाता है। चूँकि भगवान् बुद्ध भारत में ही जन्मे थे तथा यहीं पर उन्होंने परिनिर्वाण भी प्राप्त किया, अतः संसार भर के बौद्ध धर्मानुयायी भारत में स्थित पवित्र बौद्ध–स्थलों की यात्रा के लिए आते हैं तथा भारत को अपना आध्यात्मिक–गुरु स्वीकार करते हैं।

****



Tibetan painting as dwelling for the Buddhist Lotus Goddess of supreme wisdom whom the figure represents. Tibet, 18th century. Gouache and gold on cloth 16 × 11 (41 × 28)

४

बौद्ध-तन्त्र

बौद्ध तन्त्र का विकास

भगवान् बुद्ध अनीश्वरवादी थे। उनकी मान्यता थी कि मनुष्य सत्य के परमतत्व को पाने के बाद स्वयं ही 'सम्यक्–सम्बुद्ध' हो जाता है। वे तान्त्रिक सिद्धियों तथा चमत्कारों के घोर विरोधी थे। उनकी प्रासंगिकता को स्वीकार करते हुये भी उन्होंने श्रावकों तथा भिक्षुओं को इन सब से दूर रहने का ही उपदेश किया था। उनके मत में ऐसे सभी कार्य आत्मा का पतन करने वाले हैं जो मुक्ति–मार्ग में बाधा उपस्थित करते हैं। यही कारण है कि 'त्रिपिटकं' अथवा बुद्ध के समकालीन किसी भी ग्रन्थ में तन्त्रादि का संकेत तक नहीं पाया जाता। "ब्रह्मजाल–सूक्त" के अनुसार बुद्ध के समय में अनेक गुह्य–विद्याओं का प्रचलन था, परन्तु बुद्ध उनके विरोधी थे। तथापि अन्य प्रचलित विद्याओं को उन्होंने अपने धर्म में सम्मिलित कर लिया होगा"– ऐसी भी एक मान्यता है। शान्तरक्षित के "तत्व–संग्रह" तथा कमलशील की टीका से प्रकट होता है कि बुद्ध "इदधि" (ऋद्धियों) में विश्वास करते थे, इसीलिए उन्होंने अपने सामान्य–कोटि के शिष्यों के लिए मन्त्र, मुद्रा, मण्डल आदि का विधान किया था" – परन्तु शान्तरक्षित एवं कमलशील का जन्म बुद्ध के चौदहसौ वर्ष बाद हुआ था, अतः उनके ग्रन्थों के प्रमाण स्वीकार करने योग्य नहीं हो सकते।

एक अन्य मत–तन्त्र का उद्भव इन्द्रजाल से मानता है और इन्द्रजाल को मूलतः व्रात्य–संस्कृति की देन समझता है। व्रात्य–लोग स्वयं को "क्षत्रिय" कहते हैं। बुद्ध भी क्षत्रिय अर्थात् व्रात्य–कुल में उत्पन्न हुऐ थे। वे कुशल संगठनकर्ता भी थे, अतः उन्होंने अपने धर्म के प्रति लोगों को

आकर्षित करने और उसे पूर्णता देने के लिए न केवल मोक्ष की आशा ही बँधाई, अपितु मात्र सांसारिक–उपलब्धियों को ही सर्वस्व समझने वाले लोगों की सन्तुष्टि के लिए मन्त्र, धारिणी, मुद्रा तथा मण्डल आदि को भी साधना में सम्मिलित कर लिया होगा।



यद्यपि सिद्धियों अथवा चमत्कारों के पीछे दौड़ने वालों की बुद्ध ने भर्त्सना की थी, तथापि उनके द्वारा उपदिष्ट समाधि–साधन में योग तथा प्रणायाम के अनेक सूत्र उपलब्ध होते हैं। प्रज्ञा के माध्यम द्वारा औपनिषद्ज्ञान से भिन्न साधना का भी विधान मिलता है। प्राचीन बौद्ध–धर्म की ये विशेषताएँ ही आगे चलकर तान्त्रिक–साधन के उद्भव में सहायक कारण बनी होंगी–ऐसा भी माना जा सकता है।

स्तूप, रहस्यमय बौद्ध–मण्डल के प्रतिश्रद्धा एवं बोधिवृक्षों की परिक्रमा के विवरण प्राचीन बौद्ध–धर्म में भी मिलते हैं। इसके अतिरिक्त बुद्ध के विभिन्न आसन तथा विशिष्ट मुद्राएं भी रहस्यमय हैं। यही कारण है प्राचीन

बौद्ध–ग्रन्थों में तान्त्रिक–तत्वों एवं क्रियाओं का कोई प्रमाण न मिलने पर भी बौद्ध–धर्म के सभी तिब्बती–स्रोत मत–भिन्नता रखते हुए भी यह स्वीकार करते हैं कि भगवान् बुद्ध ने कभी–न–कभी, किसी–न–किसी रूप में इन साधनाओं का उपदेश भी अवश्य किया होगा। "साधनामाला" तथा 'गुह्य–समाज–तन्त्र' जैसे ग्रन्थों के अनुसार भगवान् बुद्ध ने दीपंकर के रूप में प्रकट होकर चीन अथवा महाचीन में निवास करते समय इन क्रियाओं अथवा साधनाओं का उपदेश किया था।

भगवान् बुद्ध ने गद्धकूट पर्वत पर 'सद्धर्मपुण्डरीक' नामक वैपुल्य–सूत्र का उपदेश किया था। उस समय वे देवताओं, बुद्धों, बोधिसत्वों, देवियों, भिक्षुओं तथा भिक्षुणियों से आवृत्त थे। उनकी पूजा की गई, तत्पश्चात् उन्होंने 'अनन्त निर्देश प्रतिष्ठान' नामक समाधि धारण की। उस समय उनका शरीर तथा मन दोनों ही पूर्णरूप से निष्कम्प तथा एकाग्र थे। समाधि धारण करते ही दिव्य–पुष्पों की वर्षा हुई तथा अनेक चमत्कार पूर्ण सिद्धिओं के दृश्य दिखाई दिये। उसी समय भगवान् की भौहों के मध्य भाग से दिव्य–प्रकाश की एक ऐसी रेखा (किरण) निकली, जो पूर्व दिशा में १८ हजार बुद्ध क्षेत्रों में फैल गई। तब 'कुमारभूत मंजुश्री' ने भगवान् के महोपदेश की भूमिका प्रस्तुत की। फिर भगवान् ने वैपुल्य–सूत्र 'सद्धर्मपुण्डरीक' का उपदेश किया। यह कथा भी बुद्ध धर्म में तान्त्रिकता के प्रवेश का आभास देती है।

महायान और हीनयान

बुद्ध धर्म के नियम अत्यन्त कठोर और संयमपूर्ण हैं। बुद्ध के परिनिर्वाण के लगभग पाँच सौ वर्ष बाद इन कठोर बन्धनों के प्रति विद्रोह की भवनाएँ बलवती हो उठीं, फलस्वरूप बुद्ध–धर्म स्पष्ट रूप से "हीनयान" तथा "महायान" इन दो भागों में विभाजित हो गया। "हीनयान" के अन्तर्गत परम्परावादी अर्थात् प्राचीन मत के अनुयायी साधक रहे, जबकि "महायान"

के अन्तर्गत नवीनतावादी लोग संगठित हो गये।

"महायान" के अन्तर्गत अनेक उप–सम्प्रदायों का भी उद्‌भव हुआ। इन सम्प्रदायों के द्वारा अनेक बोधिसत्वों की कल्पना ने जन्म लिया। फलतः बौद्ध–धर्म में प्रच्छन्नरूप से 'अवतारवाद' आ गया। बुद्ध पर आलौकिकता आरोपित करदी गई। महायानी– साहित्य में लोकोत्तरवाद, चमत्कार, सिद्धियाँ, देवी–देवताओं की कल्पना, धारिणी, मन्त्र, ध्यान, समाधि, मूर्ति–पूजा तथा अन्य तान्त्रिक–क्रियाओं का समावेश हुआ। "मोनियर विलियम्स" के मतानुसार बौद्ध मत ब्राह्मण धर्म से ही उद्‌भूत हुआ था। उसके अनेक तत्वों को उसने ग्रहण किया, अनेक परिवर्तन भी किये और अन्ततः उसी के वैष्णव तथा शेव–मतों में विलुप्त भी हो गया।

बौद्धों के विनय–पिटक के बाद विक्रम संवत् प्रथम–द्वितीय शतक के महायानिक ग्रन्थ "मन्जुश्रीमूलकल्प" में मन्त्र, तन्त्र एवं धारिणी आदि का स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है।

महायान के विकास के साथ ही उसकी एक प्रमुख तान्त्रिक–शाखा "वज्रयान" का भी विकास हुआ। इस सम्प्रदाय ने विज्ञानवादियों की शून्यता के साथ–साथ महासुख की भी कल्पना की और इस महासुख की प्राप्ति के लिए तन्त्र का आश्रय लिया "मालती–माधव" नामक ग्रन्थ में "श्रीशैल–शिखर" पर बौद्ध–भिक्षुणी कपाल–कुण्डला को तान्त्रिक–पूजा करते हुए चित्रित किया गया है। बौद्ध–तंत्राचार्य–नागार्जुन ने भी इसी पर्वत परं सिद्धियाँ प्राप्त की थीं। बौद्धों का तन्त्र–स्थल यही 'श्री पर्वत' रहा है। कतिपय विद्वानों के मतानुसार बौद्ध–धर्म का 'तान्त्रिक महायान' स्वरूप बौद्ध वेष में 'हिन्दू' अथवा 'शैव–मत' ही है। इसका प्रमुख मन्त्र "ॐ मणि पद्‌मे हूँ' भी शुद्ध अद्वैत भाव का उद्‌घोषक है।

बुद्ध के आर्य–मार्ग की अन्तिम अवस्था "अर्हत" है। इसे पाने के लिए ध्यान–योग की सहायता आवश्यक है। अर्हत पद पर आरूढ़ भिक्षुक –

रूप—राग, अरूप—राग, मान, औद्धत्य तथा अविद्या— इन पाँच बन्धनों को तोड़ देता है तथा मृत्यु होने पर फिर कभी जन्म—मृत्यु के चक्कर में नहीं पड़ता।

"समाधि" का अर्थ है— कुशल (कल्याण) की ओर चित्त की एकाग्रता। समाधि में चित्त केवल एक विषय पर ही स्थिर हो जाता है।

'योगाचार्य' शब्द को कुछ लोग "योगी" शब्द से निकला हुआ मानते हैं। महायान में धार्मिक दृष्टि से किसी परमतत्त्व के लिए "ईश्वर" अथवा किसी समानार्थी शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। इस मत के अनुसार हम सभी 'बोधिसत्व'अर्थात् 'प्रसुप्त—बुद्ध' है।इस प्रकार महायान की साधना बोधिसत्व की साधना है। निर्वाण—प्राप्ति के लिए बुद्ध—भक्ति, अनेक देवी—देवताओं की कल्पना तथा उपासना का विधान, मन्त्र, धारिणी तथा पूजा आदि के निर्देश महायान में मिलते हैं। "अवलोकतेश्वर गुणकरण्डव्यूह" नामक ग्रंथ में अवलोकितेश्वर की उपासना का वर्णन है। इसी ग्रंथ में "ॐ मणि पद्मे हुँ"— जैसा तान्त्रिक मन्त्र भी है। "स्वर्ण—प्रभासूत्र' में देवी महादेवी तथा सरस्वती का उल्लेख किया गया है। शक्तियों में "हारित" तथा "चण्डिका" का नाम भी आया है।

नागार्जुन को तान्त्रिक महायान धर्म का आदि—आचार्य माना जाता है। इनकी जीवनावधि ६०० वर्ष मानी गई है। यदि नागार्जुन को आदि—आचार्य माना जाय तो शक्ति रूप में प्रज्ञा के अभ्युदय के कारण तांत्रिक महायान—धर्म का उदय ईसा—पूर्व पहली शताब्दी के पूर्व से भी मान सकते हैं। तिब्बत के ऐतिहासिक लामा "तारानाथ" के प्रमाणानुसार— बौद्ध धर्म में तांत्रिक साधना गुरू—शिष्य परम्परा के आधार पर "असंग" से 'धर्मकीर्ति' के समय तक अत्यधिक गुप्त रूप से जीवित बनी रही; तदुपरान्त वह जनसामान्य में प्रचलित हुई। परन्तु नागार्जुन (प्रथम शताब्दी) से लेकर सातवीं शताब्दी तक तान्त्रिक साधना के इस रूप में प्रचलित रहने के

सम्बन्ध में कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता।

पाँचवीं शताब्दी तक बौद्धधर्म में बुद्ध के परम दैवत्व–रूप अमिताभ बौधिसत्व, अवलोकितेश्वर तथा मंजुश्री आदि की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। हारीति, चण्डिका, सरस्वती आदि देवियां भी कल्पित हो चुकी थीं तथा इनकी पूजा–उपासना एवं प्रार्थना के लिए अनेक धारिणयों तथा मंत्रों द्वारा अर्जित शक्ति की सहायता से प्राणियों का दुःख दूर करने की चिन्ता में निमग्न रहने वाले बोधिसत्वों का भी बहुलता से अभ्युदय होने लगा था। मूर्ति निर्माण तथा उसके पूजा विधान पर भी पर्याप्त ध्यान दिया जाने लगा था।

तान्त्रिक साधना का अभ्युदय

धर्मकीर्ति के पश्चात् ऐसे अनेक सिद्धाचार्य हुए जिन्होंने गुप्त परम्परा के रूप में प्रचलित साधना पद्धति को अपेक्षाकृत अधिक व्यवस्थित एवं व्यापक रूप में प्रचारित किया। जन–सामान्य में मन्त्र–तन्त्र का प्रचलन तो खुले रूप में होने लगा था, परन्तु 'शक्ति–तत्त्व' एवं 'पंच'–मकार' अर्थात् – मतस्य, मुद्रा, मैथुन, मांस एवं मद्य की साधना अत्यन्त गुप्त तथा सीमित एवं दीक्षित साधक–मण्डली में ही चलती रही।

जिस प्रकार हिन्दू–तन्त्रों के 'दक्षिणाचार' तथा 'वामाचार' नामक दो विभाग हैं, उसी प्रकार बौद्ध तन्त्रों के 'क्रिया तन्त्र' तथा 'चर्यातन्त्र' की गणना दक्षिणाचार में एवं 'योगतन्त्र' तथा 'अनुत्तर योगतन्त्र' की गणना बामाचार के अन्तर्गत की जाती है। 'दक्षिणाचार' में पूर्ण एवं कठोर ब्रह्मचर्य, नियमित खान–पान तथा नैतिक आचारों की प्रधानता है। जब साधक इन आचारों में पूर्ण कुशलता प्राप्त कर लेता है, तभी वह 'वामाचार' में दीक्षित होने का अधिकारी बन पाता है। वामाचार में वामा अर्थात् "शक्ति" या 'नारी' को आचार–साधन का अनिवार्य उपकरण माना गया है।

सातवीं शताब्दी के ग्रंथ ही वामाचार तथा पंच–मकार वाली साधना की ओर इंगित करते हैं। इससे पहले का ऐसा कोई ग्रथ उपलब्ध नहीं है, जिसमें मद्य, मांस, मन्त्र तथा माता एवं पुत्री आदि के साथ भी शारीरिक संबंधों की खुली छूट दी गई हो।

सातवीं शताब्दी तक का काल मुख्यतःआचार्यों का था। इसके पश्चात् सिद्धाचार्यों का काल आरम्भ हुआ। इन सिद्धों में चौरासी सिद्धों को 'महासिद्ध' माना गया है। स्मरणीय है कि ये सभी सिद्ध–योगी शैव्य, शाक्त तथा नाथ–पंथी थे। बौद्धधर्म में तन्त्र का प्रवेश इन्हीं सिद्धों के सम्पर्क में आने से हुआ। शैव्यों का शिव–शक्ति अर्थात् 'अर्द्धनारीश्वर' हीं बौद्धों का 'प्रज्ञोपाय' है। बौद्ध तन्त्र संसार के नारी तत्व को 'प्रज्ञा' एवं नर–तन्त्र को "उपाय" अथवा 'बुद्ध का अवतार' मानते हैं। 'प्रज्ञा', ललना तथा "उपाय" को "रसना" भी कहा जाता है। हिन्दू तन्त्रों में इन्हीं को "इडा" तथा 'पिंगला' नाड़ी कहा गया है। ये दोनों नाड़ियाँ जहाँ मिलती हैं; उसे हिन्दू तन्त्र शास्त्र में "सुषुम्ना" और बौद्ध तन्त्र में "अवधूति" कहा जाता है। हिन्दू–तन्त्रों की भाँति बौद्ध तन्त्र में भी नाड़ियों की संख्या ७२००० (बहत्तर हजार) बताई गई है।

हिन्दू सिद्धों की भाँति बौद्ध सिद्धों की रचनाएँ भी संस्कृत तथा अपभ्रंश भाषाओं में हैं। वर्तमान काल में तिब्बती भाषा में जो प्राचीन बौद्ध ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, वे मूलतः संस्कृत तथा अपभ्रंश भाषाओं से ही अनूदित किये गये हैं।

५

महायान के आचार्य

महायान

जैसा कि पहले कहा जा चुका है बुद्ध के परिनिर्वाण के लगभग ७०० वर्ष बाद बौद्ध धर्म "हीनयान" तथा "महायान" नामक दो वर्गों में विभाजित हो गया। "हीनयान" में वे साधक रहे, जो बुद्ध के प्राचीन उपदेशों के अनुसार कठोर–साधना का जीवन व्यतीत करते थे तथा तन्त्र आदि लौकिक कामनाओं की पूर्ति के साधनों को सर्वथा त्याज्य समझते थे, परन्तु 'महायान' के रूप में तान्त्रिक साधनाओं के प्रेमी तथा उनके साधक संगठित हो गए। प्रारम्भ में महायान कतिपय विशिष्ट आचारों, सिद्धान्त तथा दर्शन तक ही सीमित था, परन्तु बाद में यही यान अनेक उप–यानों में विभाजित हो गया।

महायान के परवर्ती तान्त्रिक आचार्यों ने "अद्वय वज्र संग्रह" में संग्रहीत "तत्व रत्नावाली" में महायान को दो भागों में विभाजित किया है– १. परमितानय तथा २. मन्त्रनय अर्थात् मन्त्रयान। सामान्य साधकों के लिए मन्त्रयान अत्यधिक कठिन तथा गम्भीर बताया गया है। केवल इन्द्रिय संयमी लोगों के लिए ही इसे उपयुक्त कहा गया है। इसी मन्त्रनय से परवर्ती वज्रयान तथा कालचक्रयान आदि विकसित हुए। बोधिसत्व पद की प्राप्ति के लिए "परमिता साधन" तथा "मन्त्र साधन" दोनों ही मान्य रहे हैं।

महायान की परवर्ती तान्त्रिक बौद्ध साधना, धर्म एवं दर्शन के विकास से सम्बन्धित अनेक मत मिलते हैं, जिनका विभाजन – १. वज्रयान, २. कालचक्रयान तथा ३. सहजयान में किया गया है। इनके अतिरिक्त

तन्त्रयान, मन्त्रयान तथा भद्रयान आदि भी हैं। मन्त्रयानों के विभाजनों में "क्रियातन्त्र– यान" तथा "चर्यातन्त्रयान" को निम्नस्तरीय माना जाता है। इन यानों में अनेक प्रकार के विधानों से युक्त देवी–देवताओं की पूजा तथा अन्य बाह्य पूजा विधान है। इन सबका उद्‌भव वज्रयान से ही माना जाता है। योग तन्त्र यान, अति योग तन्त्र, महायोग तन्त्रयान तथा अनुत्तरयोग तन्त्रयान –इनकी गणना उत्तम तन्त्रों के अन्तर्गत की जाती है। इनमें परम सत्य के साक्षात्कार के लिए यौगिक–साधना की मुख्यतः तथा परम सत्य की प्रकृति पर विचार किया जाता है।

वज्रयान

"वज्र" शब्द के अनेक अर्थ हैं:–

(१) वज्र अर्थात् हीरा जो समस्त कठोर वस्तुओं का प्रतीक है। (२) इन्द्र का अस्त्र, जिसे धारण करने वाले "वज्रयानी" के रूप में अवतरित हुए। (३) सन्यासियों तथा भिक्षुओं का शस्त्र, जिसके माध्यम से वे विरूद्ध शक्तियों से युद्ध करते हैं। इस प्रकार वज्रयान को विरूद्ध–शक्तियों से युद्ध करने वाला अथवा उन्हें अनुकूल बना लेने वाला यान (मार्ग) कहा जा सकता है।

"वज्रयान" की साधना में मन्त्र की प्रधानता रहती है, अतः इसे मन्त्रयान भी कहते हैं। इसमें "पंच मकार" तथा "योन–योगिक साधना" ये दो चीजें अधिक है। इनके कारण मुद्रा का अर्थ हो गया– "योन–यौगिक साधना" में सहयोग करने वाली स्त्री शक्ति"।

सहजयान

अनुत्तर योग साधना का पूर्णरूप सहजयान के रूप में विकसित हुआ, जिसे "अतियोग तन्त्रयान" कहा जाता है। सहजयान की प्रवर्तक इन्द्रभूति की बहिन लक्ष्मींकरा को माना जाता है। यह मत भी वज्रयान की ही एक

शाखा है, जो अभी भी बाकुलों में जीवित है। इस यान का कोई पृथक् साहित्य नहीं है। पदों तथा दोहों के रचयिता सहजयानी कवि वज्रयान के प्रसिद्ध ग्रंथों को ही अपने प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हैं।

सहजयानी ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते। वे अपने तथा पराये में सांसारिक–भेद भी नहीं मानते। कुछ विद्वानों के मतानुसार यह प्राचीन चीनी शब्द "ताओं" का संस्कृत अनुवाद मात्र भी हो सकता है।

महायान में पारमितानयन, वज्रयान, कालचक्रयान और सहजयान का विकास माना जाता है। वज्रयान की साधना में मंत्र की प्रधानता रहती है, अतः इसे मन्त्रयान भी कहते हैं, परन्तु "सहजयान" में मन्त्र पर जोर नहीं दिया गया है। बौद्ध तान्त्रिक ग्रंथों में एक विशेष सम्प्रदाय के रूप में सहजयान नामका प्रयोग भी नहीं मिलता है।

सहजयान की रचनाएँ दोहों तथा पदों के रूप में अपभ्रंश भाषा में लिखी गई हैं,(ऐसे कुछ पद, जिन्हें चर्यापद कहते हैं, आगे उद्‌घृत किए गए हैं)

वज्रयान के आदि आचार्य

वज्रयान के आदि आचार्य के रूप में "सरहपाद" अथवा "राहुल भद्र" का नाम लिया जाता है। "हे वज्रतन्त्र" के प्रवर्तक तथा प्रचारक भी ये ही हैं, सरहपाद का पूर्व नाम "राहुल भद्र" था। इन्होंने अपनी रचनाओं, विचित्र रहन–सहन तथा यौगिक क्रियाओं द्वारा वज्रयान को एक सार्वजनिक धर्म बना दिया। ऐसी मान्यता है कि राहुलभद्र सन् ५९३ से ७९३ ई. के बीच "सरहपा" (सरहपाद) बन चुके थे। बौद्ध–सिद्धों की सूची में १. सरह, २. कान्ह, ३. लूई, ४. दारूक, ५. शवर तथा ६. शान्ति के नाम विशेष प्रसिद्ध हैं।

राहुल सांकृत्यायन के मतानुसार "लुईपाद" सरहपाद की शिष्य–परम्परा की तीसरी पीढ़ी में थे, परन्तु प्रसिद्ध बौद्ध सूचियों से

८

बौद्ध तान्त्रिक देवी-देवता

तान्त्रिक देवी-देवता

बौद्ध–तन्त्र के अनुसार बौद्ध देव मण्डल के सभी देवी–देवता शून्य के प्रकाश हैं और तत्वतः भी शून्य ही है। इनके प्रकाश की निम्नानुसार ४ अवस्थाएँ हैं–

१. शून्यता बोधि।

२. बीज अथवा बीज–सम्बन्ध।

३. बिम्ब।

४. प्रतिमा।

वज्रयान के देवताओं का निवास रूप–स्वर्गों में सर्वोच्च 'अकनिष्ठ स्वर्ग' में माना गया है। इन शून्यात्मक देवताओं के तीन तत्व हैं–

१. शून्य २. विज्ञान, ३. महासुख।

कभी–कभी इन देवताओं को तथागत के समान भी बताया जाता है। उस समय तथागत का तात्पर्य पंचध्यानी बुद्धों से होता है। ये देवता प्रयोग के रूप में पंच स्कन्धों अर्थात् १. रूप, २. वेदना, ३. संज्ञा, ४. संस्कार तथा ५. विज्ञान केमूर्त रूप माने जाते हैं। इन पाँच स्कन्धों अर्थात् तत्वों में से क़िसी एक तत्व की प्रधानता होने पर देवता विशिष्ट उस स्कन्ध के अधिष्ठाता ध्यानी बुद्ध विशेष का उद्भव माना जाता है। वह देवता अपनी कलात्मक अभिव्यक्ति में उस ध्यानी–बुद्ध विशेष को अपने मस्तक पर धारण करता है तथा अन्य ध्यानी बुद्ध को शीर्षभाग के ऊपर छाया मण्डल

में प्रदर्शित किया जाता है।

बौद्ध तन्त्र में सभी देवताओं के वर्ण सुनश्चित हैं तथा उनकी विशिष्टता भी गम्भीर आध्यात्मिक हैं। प्रत्येक ध्यानी बुद्ध का एक वर्ण सुनिश्चित होता है तथा उस कुल के सभी देवता उसी वर्ण के होते हैं। परन्तु धार्मिक क्रियाओं की विभिन्नताओं में कभी–कभी निश्चित वर्ण से अलगाव भी पाया जाता है तथा उनकी मुद्रा आदि में भी अन्तर आ जाता है।

यद्यपि अनेक देवताओं की वाह्य आकृति भयंकर है, परन्तु वे आभ्यन्तरिक रूप में करूणामय माने गये हैं। १. यमारि, २. उच्छुष्म जभल तथा ३. महाकाल आदि इसी श्रेणी के देवता हैं।

बौद्धतंत्र के अनुसार मन्त्री अथवा साधक बोधि–सत्व स्थानीय होता है। बौधिचित्त की जब शून्य से अभिन्नता हो जाती है, तब वही देवता के रूप में प्रकाशित होता है एवं बोधिचित्त उससे अभिन्न हो जाता है। ऐसी स्थिति में साधक में भी देव–शक्ति का विकास होता है और वह भी देवता के समान ही कार्य सम्पन्न करने लगता है।

बौद्ध मूर्तिकारों ने १. भावना, २. साधना, ३. सिद्धि–विशेष तथा ४. आवश्यकता के अनुसार विभिन्न देवी–देवताओं में अपनी कल्पना के योग द्वारा, उनके मुख, भुजा तथा चरण आदि में अनेक प्रकार के परिवर्तन तथा परिवर्द्धन किये हैं, फलस्वरूप एक ही देवता अनेक रूपों में अवतरित हुए हैं।

आठवीं शताब्दी के बाद जब बौद्ध–देववाद बहुदेव–वाद के रूप में विकसित हो उठा, उस समय तान्त्रिक बौद्ध पूजकों ने इस दोष का परिहार वज्रधर अर्थात् आदि बुद्ध सिद्धान्त के आधार पर करना आरम्भ किया। इस भावना का विकास लगभग दसवीं शताब्दी में "मानवीकृत आदि बुद्ध" के रूप में हुआ। वज्र सत्व अक्षोभ्य से विकसित "वज्रपाणि" बोधिसत्व का ही विकास है। कहीं–कहीं वज्रपाणि तथा वज्रसत्व विषयक धारणायें

आपस में मिल भी गईं हैं, तथापि वज्रधर को आदि बुद्ध के रूप में सर्वत्र स्वीकार नहीं किया गया है। आदि बुद्ध सिद्धान्त के पूरी तरह प्रतिष्ठित हो जाने के बाद ध्यानी बुद्धों में से ही किसी एक को आदि बुद्ध के रूप में स्वीकार किया जाने लगा। कुछ ने जहाँ 'वज्रसत्व' को ही "आदि बुद्ध" माना, वही मतान्तर से बोधिसत्व, समन्तभद्र तथा बज्रपाणि भी आदि बुद्ध के रूप में स्वीकार किये गये। ध्यानी बुद्ध भी प्रकारान्तर से ऐसे बुद्ध हैं जिन्हें 'बोद्धिसत्व' की अवस्थाओं से होकर 'बुद्धतत्व' तक पहुँचने की आवश्यकता नहीं पड़ती। वे बुद्ध से कम नहीं हैं तथा सदैव शान्तिपूर्ण ध्यानमुद्रा में रहते हुए स्वयं को सृष्टि कार्य से मुक्त रखते हैं। एक मत से गुह्यसमाज में ध्यानी बुद्ध का सिद्धान्त सर्वप्रथम तीसरी शताब्दी में उद्भुत हुआ। बुद्ध की विभिन्न मूर्तियों में अभिव्यक्त पंच मुद्राओं के आधार पर पंच–ध्यानी बुद्धों का विकास हुआ हो यह सम्भावना भी मानी जाती है।



तान्त्रिक बौद्ध–सूत्रों के अनुसार पंच–स्कन्धों की नित्यता ही पंच–ध्यानी बुद्धों का मूलाधार है। छठे ध्यानी बुद्ध को पंचध्यानी बुद्धों के "पुरोधा" के रूप में माना जाता है। इसी कारण वे वज्र तथा घण्टा प्रतीकों को धारण करते हैं। इन ध्यानी बुद्धों को बौद्ध–देवी देवताओं के विविध कुलों के प्रजापति के रूप में मान्यता दी गई है। इनके एक–एक बोद्धिसत्व तथा शक्ति हैं, जिनके माध्यम से वे अपने कुलों को अस्तित्व प्रदान करते हैं।

विभिन्न स्कन्धों के ध्यानी बुद्ध उनके कुल, वर्ण, मुद्रा, वाहन, चिन्ह, बोधिसत्व तथा शक्ति का उल्लेख निम्नानुसार पाया जाता है–

१. स्कन्ध–विज्ञान, ध्यानी बुद्ध–अक्षोभ्य, कुल–द्वेष, वर्ण–नील, मुद्रा–भूस्पर्श, वाहन–हस्ति, चिन्ह वज्र, बोधिसत्व वज्रपाणि तथा शक्ति–लोचना।

२. स्कन्ध– संस्कार, ध्यानी बुद्ध–अमोध शक्ति, कुल–समय, वर्ण–हरित मुद्रा–अभय, वाहन–गरूण, चिन्ह–विश्व वज्र, बोधिसत्व–विश्वपाणि, तथा शक्ति–आर्यतारा।

३. स्कन्ध– संज्ञा, ध्यानी बुद्ध–अमिताभ, कुल–राग, वर्ण–रक्त, मुद्रा–समाधि, वाहन–मयूर, चिन्ह–पद्म, बोद्धिसत्व–पदमपाणि तथा शक्ति– पाण्डिरा।

४. स्कन्ध– वेदना, ध्यानी, बुद्ध–रत्नसम्भव, कुल–चिन्तामणि, वर्ण–पीत, मुद्रा–वरद, वाहन–अश्व, चिन्ह–मणि, बोद्धिसत्व–रत्नपाणि तथा शक्ति–मामकी।

५. स्कन्ध– रूप, ध्यानी बुद्ध–बैरोचन, कुल–मोह, वर्ण–उज्जवल, मुद्रा धर्मचक्र, वाहन–मकर, चिन्ह–चक्र, बौद्धिसत्व–समुन्तभद्र तथा शक्ति–वज्रधात्वीश्वरी।

ध्यानी बुद्ध और कुल

१. द्वेष कुल: इस कुल के ध्यानी बुद्ध आक्षोभ्य की गणना तथागतों में सबसे पहले की जाती है। इस कुल की शक्ति "लोचना" है तथा अक्षोभ्य द्वारा उत्पन्न देवी–देवताओं में हेरूक, हयग्रीव तथा यमार्य मुख्य माने जाते हैं। इनका वर्ण नील है। इस कुल का सम्बन्ध क्रूर–देवताओं तथा क्रूर–कार्यों से है। इसके देवी देवता भयंकर रूप वाले, खुले मुँह के जिसमें से जीभ बाहर निकली हो, तीन आँखें तथा नग्न–शरीर वाले होते हैं। ये मुण्ड माला, कपाल, व्याघ्रचर्म तथा नग्न आभूषण धारण करने वाले हैं।

इस कुल के प्रमुख उपास्य देवता 'हेरूक' हैं, जो सर्वाधिक शक्तिशाली हैं। इनके अनेक रूप हैं, जैसे– १. बुद्ध कपाल, २. संवर, ३. वज्रढाक, ४. सप्ताक्षर, ५. महामाया। हेरूक देवता दो भुजाओं वाले हैं। उनके दोनों हाथों में वज्र तथा नर–रक्त पूरित कपाल रहता है। वे शव के ऊपर अर्धपर्यंक मुद्रा में नृत्य करते हैं। उनके बाँये कन्धे पर फहराती हुई पताका से युक्त तथा नरमुण्ड से मंडित खट्वांग यज्ञोपवीत की भाँति लटकता रहता है। इस रूप में वे कर्तृरी धारिणी शक्ति से सुपरिष्वक्त रहते हैं। इन्हीं देवता का चतुर्भुज रूप युगनघ्द मुद्रा में मिलता है, जिसमें वे अपने हाथों में वज्र, खड्ग, खट्वांग तथा रत्न धारण किये रहते हैं।



जब हेरूक का रूप युगनद्ध मुद्रा में चित्रसेना द्वारा आलिग्रित होता है तब उसे 'बुद्ध–कपाल' के नाम से सम्बोधित किया जाता है। इस रूप में वे अपने हाथों में खट्वांग, कपाल, कर्स्तृरी तथा डमरूक धारण किये रहते हैं। यह युगल रूप तीन पुटों में चौवीस योगिनियों द्वारा घिरा रहता है।

वज्रवाराही के साथ संयुक्त हेरूक को "वज्रडाक" नाम से पुकारा जाता है। ये "संवर" तथा "सप्ताक्षर" नामक दो रूपों को भी ग्रहण करते हैं। "सवर" रूप दो भुजाओं वाला है। जो आलीढ़ मुद्रा में खड़े होकर कालरात्रि को पदाक्रान्त करता है। यह रूप वज्र तथा घण्टा धारण करता है, जबकि इसकी शक्ति "वज्र वारही" घण्टा तथा रक्त पूरित कपाल को धारण किये रहती है।

हेरूक का "सप्ताक्षर" स्वरूप तीन मुख तथा छः भुजाओं वाला है। यह अपनी तीनों बाँयी भुजाओं में वज्र, घण्टा तथा नर चर्म को धारण करते हैं एवं दायीं भुजाओं में कपाल, खट्वांग तथा त्रिशूल को धारण किये रहते हैं। इनकी शक्ति "वज्र वाराही" भी इन्हीं चिन्हों को धारण करती है तथा वृत्ताकार रूप में छः देवता इन्हें घेरे रहते हैं।

जिस समय हेरूक "वज्र योगिनी" जिन्हें "वज्रड़ाकिनी" भी कहा जाता है, के साथ रहते हैं; तब उनका नाम 'महामाया' होता है। चर्तुमुख तथा चार भुजाओं वाला महामाया रूप अर्धपर्यंक मुद्रा में नृत्य करता है। उस समय यह अपनी भुजाओं में कपाल, वाण, खट्वांग तथा धनुष धारण करते हैं। इनकी प्रज्ञा "बुद्ध डाकिनी" भी इन्हीं चिन्हों तथा स्वरूप को धारण करती है। हेरूक का यह युगल रूप चार दिक्कोणों पर चार देवियों से घिरा रहता है।

द्वेष कुल के दूसरे प्रमुख देवता "यमारि" हैं। विभिन्न कर्मानुसार ये विभिन्न वर्णों में भिन्न दिशाओं की ओर उन्मुख रहते हैं। शान्ति कर्म में ये उज्जवल वर्ण वाले तथा पूर्व दिशा की ओर उन्मुख होते हैं। पौष्टिक कर्म में ये पीतवर्ण वाले तथा उत्तर दिशा की ओर उन्मुख होते हैं। वशीकरण कर्म में ये रक्त वर्ण वाले तथा पश्चिम दिशा की ओर उन्मुख रहते हैं तथा आकर्षण कर्म में नील वर्ण वाले होकर तथा दक्षिण दिशा की ओर उन्मुंख रहते हैं। इन्हें एकाकी अथवा युगल दोनों रूपों में साधित किया

जाता है। इन्हें वृषभ मुख तथा वृषभ पर ही आरूढ़ माना जाता है।

रक्त वर्ण वाले 'यमारि' प्रत्यालीढ़ मुद्रा में अपनी बाँयी भुजा में रक्तपूरित कपाल तथा दाँयी भुजा में मुण्ड–युक्त श्वेत दण्ड धारण करते हैं। ये नग्न आभूषणों से अलंकृत पीत रंग के उर्ध्वकेशी तथा व्याघ्रचर्म धारण करने वाले हैं। इनकी शक्ति प्रत्यालीढ़ मुद्रा में इन्हें आलिंगनबद्ध किये खड़ी रहती है। वह दो भुजाओं वाली, व्याघ्र चर्म धारण करने वाली तथा मदमस्त रहने वाली है।

द्वेष कुल की देवियों में 'एकजटा' तथा 'नैरात्मा' प्रमुख हैं। यह दोनों देवियां नीलवर्ण वाली, भयंकर स्वरूप वाली, अग्नि की लपटों के समान उर्ध्व केशों वाली, कुत्ते के समान बाहर निकले हुए दाँतों वाली, व्याघ्र चर्म धारिणी तथा लाल रंग के तीन नेत्रों वाली है। दो भुजाओं वाली एकजटा अपनी दाँयी भुजा में कैंची तथा बाँयी भुजा में कपाल को धारण करती हैं। वह चार भुजाओं वाली हो तो भी केवल एक हाथ में ही कपाल को धारण करती हैं। महाचीन तारा को भी एकजटा का ही एक स्वरूप माना जाता है। इस रूप में भी वे एक भुजा में कपाल करती हैं। एकजटा के अष्टभुजा तथा चौबीस भुजा वाले रूप भी कल्पित किये गये हैं, और उन रूपों में भी वे एक भुजा में कपल धारण करती है।

"नैरात्मा" देवी की दक्षिण भुजा में कैंची और वाम भुजा में कपाल रहता है। इनके बांये कन्धे पर एक खट्वांग लटकता रहता है। ये शव के ऊपर अर्धपर्यक नृत्यस्था के रूप में स्थित रहती है।

२. रागकुल— इस कुल के ध्यानी बुद्ध "अमिताभ" हैं तथा देवियों में 'कुरूकुल्ला' प्रमुख है। चार भुजाओं वाली "ओडियान" कुरूकुल्ला के नाम से प्रसिद्ध है। ये भयंकर रूप वाली मुण्डमाला से युक्त, पंचकपाल अंकित शीर्ष वाली, जीभ तथा दाँतों को बाहर निकाले रखने वाली, व्याघ्रचर्म से आवृत्त तथा अग्नि की लपटों की भाँति पीत रंग के ऊर्ध्वकेशों वाली है।

अपनी चार भुजाओं में से पहला युग्म पुष्पों के धनुष पर रक्त कमल के बाण को पूरी तरह चढ़ाने में व्यस्त लगता है। तथा दूसरा युग्म पुष्पों का अंकुश तथा लाल कमल धारण किये हुए है। यह रूप अर्द्धपर्यक मुद्रा में शवासनस्थ माना गया है।

३. चिन्तामणि कुल– इसके ध्यानी बुद्ध ''रत्नसंभव'' हैं। इस कुल की देवियों में 'वसुधरा' तथा देवता 'जम्भल' को महत्वपूर्ण माना गया है। जम्भल एकाकी तथा युगनद्ध दोंनों ही रूपों में मिलते हैं। जम्भल का भयंकर रूप ''उच्छुष्म जम्भल'' है। ये प्रत्यालीढ़ मुद्रा में खड़े रहते हैं। इनका बाँया पाँव हिन्दू देवता कुबेर के मस्तक पर स्थित रहता है तथा कुछ मुड़ा हुआ दाँया पाँव कुबेर के दोंनों पाँवों को आक्रान्त किये हुए दिखाई देता है। इनकी आकृति भयंकर है। ये बड़े पेट वाले, नग्न शरीर, बड़े दाँतों वाले तथा सर्पो के आभूषणों से अलंकृत हैं। ये अपने वक्षस्थल पर रक्तरंजित–कपाल को धारण करते हैं तथा अपने तीन नेत्रों से उसकी ओर उत्सुका पूर्वक देखते भी रहते हैं। इनकी बाँयी भुजा अपनी जाँघों के पास एक नेवले को ग्रहण किये हुए दिखाई देती है।

४. मोह कुल– इस कुल के अधिष्ठाता देवता "वैरोचन" तथा प्रमुख देवियां ''मारीची'' एव्म ''वज्रवाराही'' हैं। मारीची की बारह भुजायें हैं। वे अपनी छः बाँयी भुजाओं में वक्ष की ओर उन्मुख तर्जनी, अशोक वृक्ष की शाखा, अंकुश, कपाल, ब्रह्ममुण्ड तथा धनुष धारण किये रहती हैं और अपनी दाँयी भुजाओं में क्रमशः सूचिका, अंकुश, भिन्दिपाल, खड्ग, कर्तृरी तथा वज्र युक्त दण्ड धारण करती हैं। ये ब्रह्मा, विष्णु और शिव को पादाक्रान्त किये रहती हैं।

बारह भुजाओं वाली वज्रधातीश्वरी मारीची अपनी छः दाँयी भुजाओं में क्रमशः खड्ग, मुशल, बाण, अंकुश, वज्र तथा परशु धारण करती है। और बाँयी भुजाओं में क्रमश पाश, कपाल, अशोक वृक्ष की शाखा, ब्रह्ममुण्ड,

धनुष तथा त्रिशूल धारण किये रहती है।

"ओडीयान मारीची" अपनी एक दाँयीं भुजा में अंकुश के स्थान पर चक्र तथा एक बाँयीं भुजा में केवल कपाल के स्थान पर खट्वांग कपाल धारण करती है।

"वज्र वैताली" अपनी एक दाँयी भुजा में स्वस्तिक जैसा वज्र अथवा चक्र धारण करती है तथा एक बाँयी भुजा में कपाल अथवा खट्वांग-कपाल धारण करती है।

मोहकुल की दूसरी प्रमुख देवी "वज्रवाराही" है तथा इनके तीन रूप हैं। अपने सभी रूपों में यह अत्यन्त भयंकर तीन नेत्रों वाली, बिखरे केशों वाली, षड़ मुद्रा, प्रत्यालीढ़ मुद्रा तथा मुण्ड–माला धारण करने वाली है। ये पूर्णतः नग्न, नृत्य निरत तथा शवारूढ़ा हैं। ये मण्डल की – १. डाकिनी,



२. लामा, ३. खंडरोहा तथा ४. रूपिणी इन चार देवियों से घिरी रहती है।

अपने पहले रूप में वज्रवाराही प्रत्यालीढ़ मुद्रा में खड़ी रहती है। तथा अपनी दाँयीं भुजा में तर्जनी के साथ वज्र और बाँयी भुजा में कपाल

धारण करती है। इनके बाँयी कन्धे से खट्वांग लटकता रहता है।

दूसरे रूप में वज्र वाराही देवी शव के वक्ष पर अर्धपर्यक मुद्रा में नृत्य करती रहती है। यह अपनी दाँयी भुजा में प्रहार के लिय उद्यत कैंची तथा बाँयी भुजा में रक्तपूर्ण कपाल धारण करती है। बांये कन्धे पर खट्वांग लटकता रहता है।

वज्रवाराही का तीसरा रूप चार भुजाओं वाला है। उसे "आर्यवज्रतारा" कहा जाता है। यह देवी चार भुजाओं वाली है। इसकी दो दक्षिण भुजाओं में वज्र तथा अंकुश रहते हैं तथा दो वाम भुजाओं में तर्जनी युक्त कपाल और पाश हैं। यह देवी अत्यंन्त भयंकर स्वरूप वाली, एक मुख वाली, तीन नेत्रों वाली, टेढ़ी भौंहों वाली, कठोर मांस–पिण्ड वाली, बाहर निकली हुई जीभ तथा दाँतों वाली एवं बड़े पेट वाली है। इनके बायें कन्धे पर खट्वांग लटकता रहता है तथा ये आलीढ़ मुद्रा में शव के ऊपर खड़ी रहती हैं।

गुह्यसमाज तन्त्र के ध्यानी बुद्ध

गुह्य समाज तन्त्र में "ध्यानी–बुद्धों" का व्यवस्थित विवेचन प्राप्त होता है। ध्यानी बुद्धों के नाम इस प्रकार हैं–

१. अक्षोम्य, २. अमिताभ, ३. वैरोचन, ४. अमोघ सिद्धि, तथा ५. रत्न संभव। इनकी शक्तियाँ हैं– १. लोचना, २. मामंकी, ३. तारा, ४. पाण्डरा तथा ५. समय तारा। इनके चार द्वार रक्षकों के नाम हैं– १. प्रज्ञान्तक, २. पद्यान्तक, ३. यमान्तक तथा ४. विघ्नान्तक।

इनके अतिरिक्त मंजुश्री तथा उष्णीष विजया के साथ रहने वाले चार देवताओं के नाम–अचल, हंसराज, नीलदण्ड तथा महाबल हैं।

इनके अतिरिक्त भूताधिपति, अपराजित, धनेश, जम्मल, कार्तिकेय, मंजुश्री, मंजुवज्र तथा अवलोकितेश्वर के साथ ही भविष्यतः बुद्ध मैत्रेय

तथा बोधिसत्व वज्रपाणि का भी उल्लेख पाया जाता है। इस ग्रंथ में वज्रधर तथा वज्रसत्व परस्पर मिश्रित होगये हैं तथा परमोच्च देवता शून्य के मानवीयकृत रूप हैं परवर्ती विकास में "वज्रधर" परमोच्च देवता हो गये तथा "वज्रसत्व" छठे ध्यानीबुद्ध बने। "गुह्यसमाज तन्त्र" में वज्रसत्व ध्यानी बुद्ध के रूप में नहीं हैं। जिन्हें बौद्ध देवताओं के अधिदेव के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

आदि बुद्ध की कल्पना करूणा तथा शून्यता की मूर्ति के रूप में की गई हैं। इनकी संज्ञा "काल" हैं। इनकी शक्ति समंतिरूपिणी है। शक्ति से संबलित रूप "काल चक्र" है। काल चक्र का अर्थ नाश चक्र है, जिसका अर्थ है– काल अथवा नाश के चक्र से रक्षा करने वाला मार्ग।

भोग तथा मोक्ष की समयावस्था ही जीवन–मुक्ति है। बौद्ध तन्त्रों में गुरू बुद्ध है, सुव्रत है, धर्मकाय है, मुक्तिदाता है, सर्वज्ञ तथा ज्ञानमूर्ति है। गौतम बुद्ध महागुरू थे। गुरू शिष्य पर कृपा करता है।

गुरू, शिष्य और मण्डलचर्या का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है। दीक्षा के द्वारा गुरू शिष्यों के पापों का नाश करता है तथा उसे शिव–स्वरूप में मुक्त कर देता है।

असंध ने कायस्थिता को बुद्धत्व से अभिन्न माना है। महायान के महत्वपूर्ण सिद्धान्तों में एक त्रिकाय अर्थात् निर्माणकाय, सम्भोगकाय तथा धर्मकाय सिद्धान्त है। जिनमें अन्तिम धर्मकाय या तथा तंत्रकाय सर्वोच्च हैं। यही तथता धर्मधातु अथवा तथागत गर्भ भी है।

हे वज्रतन्त्र में ध्यानी बुद्धों के नाम इस प्रकार दिय गये हैं– १. वैरोचन, २. अक्षोभ्य, ३. अमोघरत्न, ४. आरोलिक तथा ५. सात्विक।

****

६

मण्डल, देवता और शक्तियाँ

मण्डल

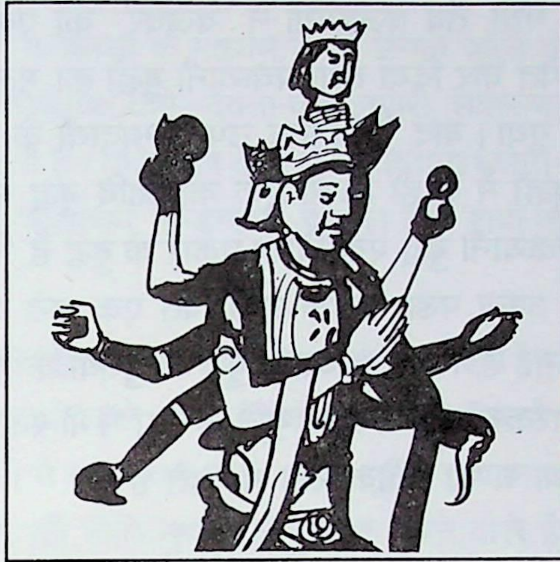
देवताओं, अधिष्ठाता तथा अधिष्ठात्री देवी के उत्थान के लिए जो एक विशिष्ट मण्डलात्मक रचना की जाती है, उसे ''मण्डल'' कहते हैं। इसमें देवता के प्रकट होने पर उसका आह्वान किया जाता है। आह्वान का कारण तथा साधन भी ''मुद्रा'' है। एक–एक प्रकार के आकर्षण हेतु एक–एक प्रकार की मुद्रा की आवश्यकता होती है। देवतागण आकर्षित होकर प्रकट होते हैं तथा अपने–अपने गुणों के अनुसार मण्डल में निश्चित स्थान ग्रहण कर लेते हैं। मण्डल के केन्द्र में अधिष्ठातृ देवता रहते हैं तथा उनके चारों ओर वृत्ताकार रूप में असंख्य देवी–देवता निवास करते हैं। महायान की तान्त्रिक साधना के चार महत्वपूर्ण स्तम्भ हैं–मण्डल, तन्त्र–मन्त्र, शक्ति तथा योग। वज्रयान में मन्त्र, योग तथा स्त्री की प्रमुखता है।

देवता

गुरूदीक्षा का मूल है, दीक्षा मन्त्र का मूल है, मन्त्र देवता का मूल है तथा देवता सिद्धि का मूल है। इस प्रकार गुरू–मन्त्र तथा देवता में कोई भेद नहीं है।

वज्रयान के देवता अकनिष्ठ–स्वर्ग में निवास करते हैं, जो रूप–स्वर्गों में सर्वोच्च है। इन देवताओं को कभी–कभी तथागत के समतुल्य भी माना जाता है। ''तथागत'' पंचध्यानी बुद्ध हैं। ये पंचध्यानी बुद्ध–१. रूप, २. वेदना, ३. संज्ञा, ४. संस्कार तथा ५. विज्ञान इन पाँच स्कन्धों के मूर्तरूप हैं, जिन पर उनका अधिष्ठान है। इन पंचस्कन्धों के क्रम में पंचध्यानी बुद्धों के नाम इस प्रकार हैं– १. वैरोचन (रूप), २. रत्न सम्भव (वेदना), ३. अमिताभ

(संज्ञा), ४. अमोघ सिद्धि (संस्कार) तथा ५. अक्षोभ्य (विज्ञान)। इन पाँच स्कन्धों में जो भी मुख्य होता है, देवता को उसी ध्यानी बुद्ध का उद्भव



माना जाता है तथा उसके शीर्ष भाग पर उसी ध्यानी–बुद्ध की लघु प्रतिमा प्रतिष्ठित की जाती है। शेष ध्यानी–बुद्ध उसी अधिष्ठाता–ध्यानी–बुद्ध के शेषभाग के प्रभामण्डल के चारों ओर प्रदर्शित किये जाते हैं।

प्रत्येक ध्यानी–बुद्ध की वर्ण निश्चित हैं। उसके कुल के सभी देवी–देवता उसी वर्ण के होते हैं। कभी–२ क्रिया–विधानों में उनके वर्ण, आसन तथा रूप आदि में विभिन्नता भी पाई जाती है। उसका मुख्य कारण यह भी है कि बौद्ध–साधकों की श्रद्धानुसार मूर्तिकारों तथा चित्रकारों ने देवताओं के मुख तथा हाथ आदि की संख्या एवं वर्ण आदि में बहुत परिवर्तन किये हैं। इस प्रकार देवी–देवताओं की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती रही है। इनमें से अनेक देवता अपने रूप में अत्यन्त भयानक प्रतीत होते हैं। तथापि बौद्ध–साधकों की यह मान्यता है कि आन्तरिक रूप में वे सब कल्याणकारी तथा कोमल–हृदय वाले होते हैं।

पंच ध्यानी बुद्ध पंचस्कन्धों के अधिष्ठाता हैं, जिनके कुल हैं– १. द्वेष, २. मोह, ३. राग, ४. चिन्तामणि और ५. समय। ये पंचध्यानी बुद्ध ही कालान्तर में स्वतन्त्र देवता के रूप में प्रतिष्ठित हो गये। बौद्धधर्म में जब बहुदेववाद का प्रचलन हो गया, तब वज्राचार्यों ने "वज्रधर" को एक 'आदिदेवता' के रूप में स्थापित कर दिया तथा पंचध्यानी बुद्धों का मूलस्रोत भी इन्हीं को मान लिया गया। बाद में विभिन्न उप–सम्प्रदायों के विकसित होने पर पंचध्यानी बुद्धों में से ही किसी एक को आदि बुद्ध मानने की प्रथा चल पड़ी। ये पंचध्यानी बुद्ध एक विशेष प्रकार के बुद्ध हैं, जिन्हें बौधिसत्व अवस्था में नहीं आना पड़ा। इनके अतिरिक्त एक छठे ध्यानी बुद्ध की कल्पना भी की गई है, जिन्हें पंचध्यानी बुद्ध के पुरोधा के रूप में स्वीकार किया है। ये पंचस्कन्धों की समवाय मूर्ति के रूप में भी स्वीकृत है। इनके हाथ में वज्र तथा घण्टा प्रतीक रूप में रहते हैं।

शक्तियाँ

वज्रयासन के तन्त्रग्रंथों में प्रत्येक साधक के साथ एक–एक शक्ति की आवश्यकता भी बताई गई है। शक्ति को ही "मुद्रा" भी कहा जाता



है। मुद्रा का सर्वगुण सम्पन्न, योग–निपुण तथा सुन्दरी होना आवाश्यक है। प्रायः षोड्श वर्षीया मुद्रा का विधान मिलता है।

ध्यानी–बुद्धों के कुलों के निश्चित बोधिसत्व हैं तथा उनकी शक्तियाँ भी निश्चित हैं। शक्तियों के माध्यम से ही उनके कुलों का विकास होता है। इन कुलों के अनेक देवी–देवता कपालधारी, शवारूढ़, मुण्डमालाधारी तथा श्मशानवासी हैं। यथा–द्वेष कुल के अधिष्ठाता ध्यानी–बुद्ध "अक्षोभ्य" तीन नेत्रों वाले, व्याघ्रचर्म, मुण्डमाला, कपाल तथा सर्पों के आभूषण धारण करने वाले हैं।

इसी कुल के "हेरूक" नामक देवता का एक रूप "बुद्ध–कपाल" है। 'हेरूक' दो भुजाओं वाले, अर्द्धपर्यकासन में नृत्य करते समय शवारूढ़ रहने वाले, हाथों में वज्र एवं मानव–रक्त–पूरित कपाल धारण करने वाले तथा यज्ञोपवीत की भाँति मुण्डमाला धारण करने वाले हैं। युगनद्ध–मुद्रा में इनकी शक्ति भी हाथों में कर्तरी और कपाल धारण करती है।

हेरूक का चार भुजाओं वाला युगनद्धात्मक रूप 'बुद्ध–कपाल' कहा जाता है, जो अपने हाथों में खट्वांग, कपाल, कर्तरी तथा डमरू धारण करता है।

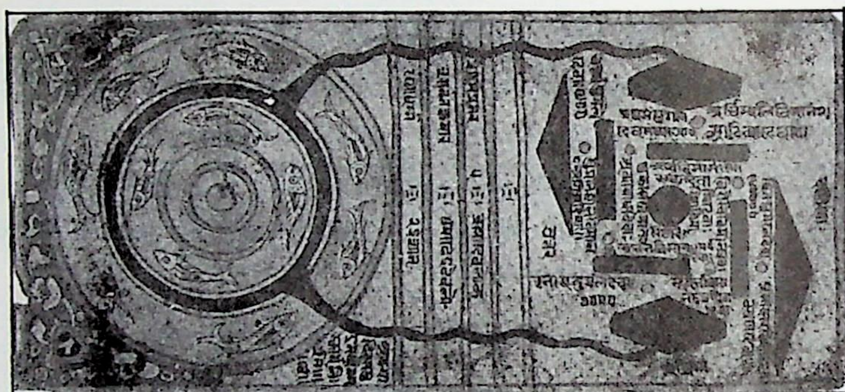


इसी कुल के "यमारि" प्रत्यालीढ़ मुद्रा में मानव—रक्तपूरित कपाल, मुण्ड—मण्डित—दण्ड, सर्पाभरण तथा व्याघ्र—चर्मधारी है। इनकी शक्ति भी प्रत्यालीढ़ मुद्रा में व्याघ्रचर्म धारण करती है तथा मदिरा से मस्त बनी रहती है।

इसी कुल की देवी—"एकजटा" तथा 'नैरात्मा' में भी न्यूनाधिक मात्रा में यही तत्व मिलते हैं।

मोह—कुल में "मारीची" तथा 'वज्र—वाराही', राग—कुल में 'कुरुकुल्ला' तथा चिन्तामणि—कुल में "उच्छुष्म जम्मल" नामक देवी—देवता भी कापालिक तत्वों एवं लक्षणों से युक्त हैं।

****



. Diagram illustrating how the transcendent system of cosmic space, with its absolute directions E, S, W, N, is subtly related through layers of matter and space to the world of Jambudvīpa. From a copy of the Saṅgrahani sūtra. Gujerat, 16th century. Ink and colour on paper 5 × 10 (13 × 25)

तथा ३. मंत्रमाला।

"सुसिद्धि" के अनुसार मंत्र में जब देवता के ऊपर ध्यान स्थिर किया जाता है, उस समय अनेक प्रकार की ऐश्वर्यशाली वस्तुएँ तथा अन्य दृश्य दिखाई देते हैं। साधक को उन पर ध्यान नहीं देना चाहिये।

दूसरे स्तर पर केवल चन्द्रमा तथा मंत्रमाला का ध्यान किया जाता है तथा तीसरे स्तर पर केवल ध्वनि का। इस प्रकार साधक को तीन स्तर पार करने चाहिये।

"सुबाहु" के पाँचवें अध्याय में यह कहा गया है कि जप की स्थिति में न तो शीघ्रता होनी चाहिये और न अधिक धीमी गति ही हो। उच्चारण भी न जोर का हो और न ही धीमा। जप के समय न तो बोलना चाहिय और न ध्यान बँटने देना चाहिये। अनुस्वार तथा विसर्ग का ध्यान रखना भी आवश्यक है। यदि मन विकारयुक्त, वासनायुक्त, दुर्गुणों से पूर्ण अथवा चंचल हो तो उसे नियंत्रित करना चाहिये, अन्यथा इस मार्ग को छोड़ देना ही उचित है। इन सब विकारों से मन को हटाकर उसे धरणी के ऐश्वर्यपूर्ण अक्षरों में लगाना चाहिये। यदि कोई अन्य दृष्य दिखाई दे तो उनसे ध्यान हटा देना चाहिये।

ऐश्वर्य–वृद्धि अथवा ऐश्वर्य द्वारा संतुष्टि प्राप्त करने के लिए साधक को सुखपूर्वक मंत्र जप करना चाहिये। उग्र कर्म–काण्ड में मंत्र जप जोर–जोर से किया जाता है।

प्रातः तथा सायंकाल एक घड़ी भर जप करना उचित है। गौ–धूल वेला में तथा पौ फटते समय आधी घड़ी; दोपहर में आधी, तिहाई अथवा चौथाई घड़ी और यहाँ तक कि संक्षिप्त पाठ से भी काम चल सकता है।

मंत्र–जप के बाद हवन भी करना चाहिये। पाठ की संख्या के विषय में सुसिद्धि में कहा गया है कि यदि मंत्र में पन्द्रह अथवा कम अक्षर हो

तो साधक को एक अक्षर एक लाख बार जपना चाहिये। बत्तीस अक्षरों के समूह का मंत्र हो तो तीन लाख बार जप करें। यदि मंत्र के अक्षर इससे भी अधिक हों तो एक लाख बार जप करना चाहिये।

यदि भगवान बुद्ध का ध्यान किया जा रहा हो तो किसी अन्य देवता के मंत्र–जप की आवश्यकता नहीं है।

मंत्र जप के समय ऊँघना, सोना, जँभाई लेना, छींकना, जोर से खाँसना, अपान वायु का निष्कानसन, शौच अथवा मूत्र–त्याग के लिए जाना आदि कार्य वर्जित हैं। इनके कारण जप में बाधा पड़ती है। यदि ये कार्य न रूक सकें तो इनसे मुक्ति पाने के बाद, शरीर को शुद्ध करके, नये सिरे से जप आरम्भ करना चाहिये।

"सुसिद्धि" के अनुसार यदि किसी अन्य देवता की स्तुति की जाय और उसका मानसिक रूप से ध्यान किया जाय तो उसके मंत्र का जप भी करना चाहिये।

यदि किसी दुष्टात्मा, रोग, लापरवाही, शारीरिक अथवा मानसिक थकान अथवा किसी अन्य काम के कारण निश्चित समय का उलंघन हुआ हो अथवा अस्वस्थ एवं अपवित्र मन से अनियंत्रित जप किया गया हो तथा दुःस्वप्न देखने के बाद दूसरे दिन किसी कुल के गुरू की धरणी का सौ बार स्तवन न किया गया हो तो उस जप का कोई फल नहीं मिलता। यह भी कहा गया है कि यदि किसी एक स्थान पर आधा जप अथवा स्तवन किया गया हो तथा शेष क्रियाऐं दूसरे स्थान पर जाकर पूरी की हों तो इससे भी उद्देश्य की सिद्धि नहीं होती।

क्रूर क्रियाओं के लिए अर्ध–रात्रि का समय उचित माना गया है। आचार्य वराबौद्धि के मतानुसार किसी भी जप के लिए जो घड़ी निश्चित की गई है, उसी घड़ी में वह जप करना चाहिये। जप को स्तवन के साथ पूरा करना चाहिये। जब ऐसा कर चुकें, तब उसे तीन कुलों की माँ तथा गुरू

के नाम का २१ बार जप करना चाहिये। इससे जप और स्तवन की रक्षा होती है।

तीन देवियों के नाम

"लोकाना" को तथागत–घराने की माँ कहा जाता है। "पण्डारा" –ये पद्मा घराने की माँ है तथा "मामकी" ये वज्र घराने की माँ हैं। देवियों के ये नाम पूर्व वर्णित देवियों के नामों से मेल नहीं खाते। आगे चल कर जिस तांत्रिक परम्परा का प्रारम्भ हुआ, मुख्यतः तारा सम्प्रदाय का उसके विस्तार में अनेक देवियों की आराधना किया जाना प्रारम्भ हुआ। अतः इन तीनों देवियों को तारा–सम्प्रदाय की देन ही समझना चाहिये।

तारा सम्प्रदाय की एक श्रेणी को "समान तारा" कहा गया है, जिसका सम्बन्ध "अमोघ सिद्धि" के परिवार से है। विभिन्नता के रूप में "पद्म" घराने की माँ को "पण्डारा" का नाम दिया गया है। "पण्डारा" का अर्थ है– श्वेत–वर्ण वाली स्त्री, परन्तु यथार्थ में ये श्वेत– परिधान धारण करने वाला तारा ही हैं। तारा सदैव श्वेत–परिधान में रहती है, जबकि पण्डारा को श्वेत–वर्णा माना गया है।

चार पद्धतियों द्वारा जब जप किया जाता है, तब देवता को सिद्धि के लिए कलश मुद्रा सद्‌गुणों के सार के रूप में प्रदान की जाती है।

ध्वनि की धरणी के चिन्तन का लक्ष्य होता है–केवल धरणी (मंत्र) के अक्षरों पर अपना ध्यान केन्द्रित करना। फिर क्रमशः चन्द्रमा का चिन्तन किया जाता है, चन्द्रमा का चिन्तन सामने वाले देवता के शरीर में होता है तथा सामने वाले देवता का शरीर भी तभी परिलक्षित होता है, जबकि साधक केवल अपने ही दिव्य–शरीर की खोज में मन लगाता है।

आत्म–प्रकाशन केवल अपने ही हृदय में मंत्राक्षरों का ध्यान करने से होता है। क्रमशः ध्वनि का चिन्तन, फिर देवता के ज्ञानमय शरीर का चिन्तन,

फिर धर्मकाया का चिन्तन, फिर निराधार रहते हुये आत्म–तत्व का चिन्तन और फिर उसके बाद वि–पाक काया का चिन्तन किया जाता है। वि–पाक काया के चिन्तन में माया(भ्रम), मृग–तृष्णा आदि दृष्य दिखाई देते हैं। ध्यान की इन अवस्थाओं के बाद साधक शून्य में स्थिर हो जाता है। माया–मृग–तृष्णा के बीच में रहते हुये भी अहँ–रूपी देवत्व से अपनी पकड़ ढीली नहीं करनी चाहिये। इसके उपरान्त साधक को प्रज्ञा–परमिता का पाठ तथा स्तूप का निर्माण करना चाहिये। प्रत्येक दिन के अर्घ–पात्रों को धोना और चढ़ाये हुये पुष्पों को तीन समय जल में प्रवाहित करना चाहिये। अपने शरीर के ऊपरी तथा निम्न भाग के वस्त्रों को तीन समय धोना और सँवारना चाहिये। उनके ऊपर पवित्र जल छिड़कना चाहिये तथा उन्हें सुगन्धित करना चाहिये।

जप की स्थिति में जब सिद्धि के लिए हवन किया जाय तो उस समय साधक को केवल ऊपरी वस्त्र ही पहनने चाहिये, विश्राम तथा सैर के समय को छोड़कर। अपने अधो–वस्त्र बिल्कुल नहीं हटाने चाहिये और न उन्हें मिट्टी से गन्दा करना चाहिये, केवल सोने तथा उन्हें धोने के समय को छोड़कर।

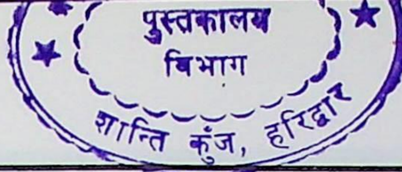
किसी क्वारी–कन्या के द्वारा काते गये सूत के लाल रंग अथवा केशर से रंगे हुये धागे में एक गाँठ बाँधनी चाहिये। गाँठ बाँध्ते समय **''ॐ ध ारा धारा बन्धने शुक्र धारिणी सिद्धार्थे स्वाहा''** इस मंत्र को १००० बार बोलकर धागे को अपने लँगोट के ऊपर बाँध लेना चाहिये, इससे वीर्य स्खलित नहीं होता।

ध्यान योग

ध्यान योग अर्थात् जप–रहित ध्यान की तीन श्रेणियाँ हैं–

१. अग्नि की लपटों में रहने का ध्यान।

२. ध्वनि में रहने का ध्यान।



३. ध्वनि की सीमा से परे का ध्यान।

अग्नि की लपटों में रहने का ध्यान

इसे वही प्राप्त कर पाता है, जो देवताओं के चिन्तन की सीमा पर पहुँच चुका हो। स्वयं को देवता मानकर चिन्तन करना, अपने हृदय में अग्नि की लपटों (जिह्वाओं) का चिन्तन करना, इसका प्रमुख लक्षण है। प्रज्जलित घृत के दीपक की लौ अग्नि की लपटों के समान होती है। इसी के अन्तर्गत साधक आत्मबोध को ढूँढ़ता है, तदुपरान्त मन की वास्तविकता को ध्वनि की लय में ढूँढ़ता है। इस अवसर पर जो भी मंत्र उपयुक्त हो, उसे बोला जाना चाहिये। ध्वनि की सीमा पर पहुँचने का स्तर इस प्रकार है– जब भूख–प्यास का अनुभव न हो, बाहरी भोज्य तथा पेय पदार्थों का सेवन न किया जाय और सेवन अपने आन्तरिक सौन्दर्य तथा ऊष्मा पर ही निर्भत रहा जाय तो समाधि लग जाती है।

ध्वनि में रहने का ध्यान

इसमें साधक स्वयं को देवता के रूप में चिन्तन करता है तथा अपने हृदय के भीतर चन्द्र–मण्डल की उद्‌भावना करता है, वह अपने समान ही देवता के सूक्ष्म–रूप का ध्यान करता है तथा हृदय के भीतर जलते हुये घृत के दीपक की कल्पना कर उसकी लौ के भीतर ही धरणी (मंत्र) की ध्वनियों की लय का चिन्तन करता है। इसमें किसी भी ध्वनि का उच्चारण कर, उसकी ध्वनि का चिन्तन नहीं किया जा सकता और न ही मानसिक अथवा उपाशु का ही सहारा लिया जाता है। इस स्थिति में मंत्र का उच्चारण स्वयं नहीं किया जाता। वह केवल लौ के भीतर ही मंत्र की ध्वनियों की लय का चिन्तन करता है। ठीक उसी प्रकार जैसे कि कोई पास वाला सुन रहा हो। धरणी की ध्वनियों की लय की तुलना स्वयं के मानसिक तत्व से की जा सकती है। इस स्थिति में देवता की काया का स्पष्ट रूप से ध्यान किया जाता है, तदुपरान्त साधक अपने

मस्तिष्क को केवल ध्वनि पर ही केन्द्रित कर लेता है, इस सीमा तक कि देवता की काया तथा अन्य वस्तुओं का ध्यान नहीं करता। जबकि अग्नि में रहने की स्थिति में मन अग्नि और ध्वनि दोनों पर केन्द्रित रहता है। उदाहरण के लिए जब साधक देवता के चिन्तन की सीमा में पहुँच जाता है तब विभिन्न कायाऐं– विभिन्न रंगों तथा चिन्हों से युक्त मुख्य देवता और उसके सभी सहयोगी–साथी ध्यान में स्पष्ट रूप से आ जाते हैं। इस स्थिति में साधक जब सीमा का स्पर्श करता है तो धरणी के अक्षरों की ध्वनियाँ एक–दूसरी के पास नहीं आती, अपितु वे मन के भीतर निरन्तर प्रवाहित होती रहती है। इस प्रकार का ध्यान "स्वनिमित्त योग" (जप विहीन ध्यान) का लक्षण है।

ध्वनि की सीमा से स्वतंत्र होने का ध्यान

सामान्यतः समाधि, जिसमें "समाथा" (शान्त रहना) तथा "विपासन्द" (उर्ध्व दृष्टि)– ये दोनों परस्पर मिल जाते हैं, इसे 'युगनद्ध' कहा जाता है। यह समाधि का आधार है और यही परमितायान तथा मन्त्रयान का मार्ग है। परमितायान में पहले शान्त तथा उसके अन्य लक्षण प्राप्त किए जाते हैं। इसके आधार पर साधक उर्ध्व दृष्टि को उन्नत करता है। इन स्तरों को पार करने के बाद वह शान्त तथा उर्ध्व दृष्टि की सम्मिलित अवस्था की ओर अग्रसर होता है।

चार तत्वों के विभाग में समाथा अर्थात् शान्त रहने की अवस्था को प्राप्त करने का मार्ग नहीं बदला गया है। और, यह आवश्यक भी नहीं है, क्योंकि अपने भीतर और अपने को ही देवता का योग मानकर, अर्थात देवता का योग भी हम ही हैं– साधक समाथा की अवस्था को स्वयं ही प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार योग तथा अनुत्तर में साधक समाथा के सभी लक्षणों को पूर्ण रूपेण प्राप्त कर लेता है। इसमें देवता के दो योगों की सीमाओं का स्पर्श होता है। एक योग सामान्य तथा दूसरा उच्चतर

है (अनुत्तर तन्त्र में दो योगों का वर्णन उत्पत्ति कर्म के अन्तर्गत किया जाता है, सामान्यतः केवल देवता के अवयवों का ध्यान किया जाता है तथा वे देवता मण्डलों में रखे जाते हैं, जबकि उच्चतर योग में देवता के नेत्रों तथा शरीर के अन्य भागों का चिन्तन किया जाता है)।

क्रियाकार्य तन्त्र में भी इसी प्रकार के मिलते–जुलते तथ्य पाये जाते हैं। जब छै देवताओं का ध्यान किया जाता है तथा ध्यान के समय अग्नि तथा ध्वनि में रहने की स्थिति आती है, तभी सिद्धि प्राप्त होती है।

अपनी चिन्तन शक्ति के आधार पर ध्वनि में रहने के ध्यान की स्थिति में साधक यथार्थ में शारीरिक तथा मानसिक काया प्रसावधि तथा चित्त प्रसावधि को प्राप्त करता है। यही समाथा का पूर्ण लक्षण है। इससे शारीरिक तथा मानसिक शान्ति प्राप्त होती है।

क्रियाकार्य तन्त्र में व्यक्ति शरीर को महामुद्रा के रूप में धारिणी को वाणी के रूप में तथा मन को तत्व के रूप में लेता है।

शरीर को महामुद्रा के रूप में देखना-

इसके अन्तर्गत छै देवताओं का चिन्तन किया जाता है।

धरणी के स्तोत्रों को वाणी के रूप में लेना-

इसमें धरणी (मंत्र) के स्तोत्रों के अक्षरों का ध्यान किया जाता है तथा उनका जप भी किया जाता है, परन्तु मुख्यतः अग्नि में तथा ध्वनि में रहने की ध्यानावस्था में स्तोत्रों की ध्वनियों पर ही जोर दिया जाता है, उच्चारण पर नहीं।

मन तत्व के रूप में ध्यान

इसमें तीन वस्तुओं का ध्यान किया जाता है–

१. मानसिक रूप से किसी विशेष वस्तु का ध्यान।

मस्तिष्क को केवल ध्वनि पर ही केन्द्रित कर लेता है, इस सीमा तक कि देवता की काया तथा अन्य वस्तुओं का ध्यान नहीं करता। जबकि अग्नि में रहने की स्थिति में मन अग्नि और ध्वनि दोनों पर केन्द्रित रहता है। उदाहरण के लिए जब साधक देवता के चिन्तन की सीमा में पहुँच जाता है तब विभिन्न कायाऐं– विभिन्न रंगों तथा चिन्हों से युक्त मुख्य देवता और उसके सभी सहयोगी–साथी ध्यान में स्पष्ट रूप से आ जाते हैं। इस स्थिति में साधक जब सीमा का स्पर्श करता है तो धरणी के अक्षरों की ध्वनियाँ एक–दूसरी के पास नहीं आती, अपितु वे मन के भीतर निरन्तर प्रवाहित होती रहती है। इस प्रकार का ध्यान ''स्वनिमित्त योग'' (जप विहीन ध्यान) का लक्षण है।

ध्वनि की सीमा से स्वतंत्र होने का ध्यान

सामान्यतः समाधि, जिसमें ''समाथा'' (शान्त रहना) तथा ''विपासन्द'' (उर्ध्व दृष्टि)– ये दोनों परस्पर मिल जाते हैं, इसे 'युगनद्ध' कहा जाता है। यह समाधि का आधार है और यही परमितायान तथा मन्त्रयान का मार्ग है। परमितायान में पहले शान्त तथा उसके अन्य लक्षण प्राप्त किए जाते हैं। इसके आधार पर साधक उर्ध्व दृष्टि को उन्नत करता है। इन स्तरों को पार करने के बाद वह शान्त तथा उर्ध्व दृष्टि की सम्मिलित अवस्था की ओर अग्रसर होता है।

चार तत्वों के विभाग में समाथा अर्थात् शान्त रहने की अवस्था को प्राप्त करने का मार्ग नहीं बदला गया है। और, यह आवश्यक भी नहीं है, क्योंकि अपने भीतर और अपने को ही देवता का योग मानकर, अर्थात देवता का योग भी हम ही हैं– साधक समाथा की अवस्था को स्वयं ही प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार योग तथा अनुत्तर में साधक समाथा के सभी लक्षणों को पूर्ण रूपेण प्राप्त कर लेता है। इसमें देवता के दो योगों की सीमाओं का स्पर्श होता है। एक योग सामान्य तथा दूसरा उच्चतर

है (अनुत्तर तन्त्र में दो योगों का वर्णन उत्पत्ति कर्म के अन्तर्गत किया जाता है, सामान्यतः केवल देवता के अवयवों का ध्यान किया जाता है तथा वे देवता मण्डलों में रखे जाते हैं, जबकि उच्चतर योग में देवता के नेत्रों तथा शरीर के अन्य भागों का चिन्तन किया जाता है)।

क्रियाकार्य तन्त्र में भी इसी प्रकार के मिलते-जुलते तथ्य पाये जाते हैं। जब छै देवताओं का ध्यान किया जाता है तथा ध्यान के समय अग्नि तथा ध्वनि में रहने की स्थिति आती है, तभी सिद्धि प्राप्त होती है।

अपनी चिन्तन शक्ति के आधार पर ध्वनि में रहने के ध्यान की स्थिति में साधक यथार्थ में शारीरिक तथा मानसिक काया प्रसावधि तथा चित्त प्रसावधि को प्राप्त करता है। यही समाथा का पूर्ण लक्षण है। इससे शारीरिक तथा मानसिक शान्ति प्राप्त होती है।

क्रियाकार्य तन्त्र में व्यक्ति शरीर को महामुद्रा के रूप में धारिणी को वाणी के रूप में तथा मन को तत्व के रूप में लेता है।

शरीर को महामुद्रा के रूप में देखना-

इसके अन्तर्गत छै देवताओं का चिन्तन किया जाता है।

धरणी के स्तोत्रों को वाणी के रूप में लेना-

इसमें धरणी (मंत्र) के स्तोत्रों के अक्षरों का ध्यान किया जाता है तथा उनका जप भी किया जाता है, परन्तु मुख्यतः अग्नि में तथा ध्वनि में रहने की ध्यानावस्था में स्तोत्रों की ध्वनियों पर ही जोर दिया जाता है, उच्चारण पर नहीं।

मन तत्व के रूप में ध्यान

इसमें तीन वस्तुओं का ध्यान किया जाता है-

१. मानसिक रूप से किसी विशेष वस्तु का ध्यान।

२. बिना चिन्हों का योग।

३. ध्वनि में रहने के ध्यान की सीमा।

क्योंकि इसमें अन्त में शून्य का ध्यान होता है और यही शून्य धर्मकाया से संगम कराता है तथा उसे स्वतन्त्रता भी प्रदान करता है।

यदि कोई चिन्हों की सहायता से ध्यान की सीमा पर पहुँचता है तो वह वास्तव में प्रतिरोध–रहित होता है। ऐसा प्रतिरोध जो कि संसार (आवागमन अथवा पुनर्जन्म) के प्रभाव से बचाता है। संसार चक्र से छुटकारा पाने के लिए "अनियमित योग", चिन्ह रहित योग का आश्रय लेना पड़ता है। आगे चलकर उसे परम्परागत रूप में देवता की काया का ध्यान करने की आवश्यकता नहीं रहती, अपितु वह वास्तव में ध्यान का ही विश्लेषण बन जाता है तथा शून्य के समापन का विश्लेषण करने लगता है। इस प्रकार उसे ऊर्ध्व दृष्टि की प्राप्ति हो जाती है।

सुनिश्चित सेवा के उपरान्त सिद्धि की प्राप्ति

सभी तन्त्रों के चारों विभागों में यह नियम है कि स्तवन, वैभव–वृद्धि तथा भयावह–क्रिया, उनकी सहायक सिद्धियाँ, उनके वर्ग की अन्तर्दृष्टि तथा दीर्घायु की क्रिया–इन सबसे पूर्व सेवा की क्रिया करनी चाहिए, तत्पश्चात् उपयुक्त क्रियाओं का सम्पादन करना चाहिए। इस प्रकार महान् सिद्धियों की प्राप्ति हेतु, उदाहरणार्थ– आयु को कई महाकल्पों तक बढ़ाना साधक को चिन्हयुक्त तथा चिन्ह विहीन योग की सीमाओं का स्पर्श करना चाहिए, परन्तु रोग निवारण एवं भूत–मुक्ति (राक्षस, पिशाच आदि से छुटकारा) में इसकी आवश्यकता नहीं रहती।

स्तवन, वैभव तथा भयावह कर्म क्रमशः तथागत–परिवार, पद्म–परिवार तथा वज्र–परिवार से सिद्ध होते हैं तथा इसी क्रम के अनुसार साधक उच्चतम, मध्यम तथा कनिष्ठ सिद्धियों को प्राप्त करता है।

जैसा कि इन तीन कुलों में तीन प्रकार की सिद्धियों तथा तीन प्रकार के कर्म होते हैं, उसी प्रकार साधक स्तवन में भी तीन कर्म करता है तथा उसमें कुलगुरु, कुलमाता तथा क्रोधी देवता, जो कि प्रत्येक कुल में होता है– का आश्रय लिया जाता है।

सिद्धियों को बाँटने के कई मार्ग हैं। उनका वर्गीकरण स्वभाव तथा लक्षणों के अनुसार किया गया है, जैसे–

१. विद्याधर, २. अभिज्ञान तथा ३. तान्त्रिक सिद्धियां

ये सिद्धियाँ उच्चतम हैं।

२. मध्यम कोटि की सिद्धियों में – अदृश्यीकरण, शक्ति तथा तीव्र पद संचालन ये सिद्धियां मध्यम हैं।

३. दूसरे को अपनी इच्छानुसार चलाना अथवा दास बनाना, मारण तथा भयभीत करना– ये कनिष्ठ अथवा निम्न सिद्धियां हैं।

शकुनों के आधार पर भी तीन श्रेणियां उद्घाटित होती हैं– उन शकुनों में– १. जलती हुई वस्तु, २. उठता हुआ धुआँ तथा ३. उष्णता। इन सब शकुनों का वर्णन "मंजुश्री मूल तन्त्र" में मिलता है। इन्हें ज्वलित, धूम तथा ऊष्म कहा गया है।

अपने मूलाधार से अपने शारीरिक कर्मकाण्ड के तत्व और योग की सिद्धियां प्राप्त होती हैं।

जप के द्वारा धारिणी (मंत्र), आर्य, देव और भौमा की सिद्धियां प्राप्त की जाती हैं। चीनी तथा जापानी ग्रन्थों में जप (पाठ) द्वारा प्राप्त की गई सिद्धियों को निम्न कोटि की माना गया है। भौमा भी इसी श्रेणी में आती है।

सिद्धि प्रदान करने वाले का पद सर्वोच्च होता है। वह क्षुद्र सिद्धियों

को भी दे सकता है। यदि साधक उचित श्रम के अनुसार साधना नहीं करता तो उसे क्षुद्र सिद्धियाँ ही प्राप्त होती हैं और उन्हें प्रदान करने वाला भी उच्चतम देवता ही होता है। यदि किसी ने उत्तम सेवा तथा साधना की हो तो क्षुद्र कोटि का देवता भी उच्चतर देवताओं से सिफारिश करके साधक को उच्च सिद्धि प्रदान कर सकता है।

स्वप्न-विश्लेषण

जब कोई तीन रत्नों (बुद्ध, धर्म और संघ) का आनन्दप्रद स्वप्न देखता है अथवा अपने इष्ट देवता, स्वदेवता, बोधिसत्व, चतुष्परिषद अर्थात् सामान्य बौध, पर्वत, हाथी, धन एवं वस्त्र लाभ आदि स्वप्नों को देखता है तो उसे नये साधक अर्थात् धर्मसंघ के प्रवेशार्थी भिक्षु–भिक्षुणी को यह समझना चाहिए कि ऐसे स्वप्न सिद्धियों की ओर अग्रसर हाने के लक्षण होते हैं।

सुसिद्धि

जब किसी देवता से भोग द्वारा संबंध स्थापित हो तो ऐसा स्वप्न इस बात का प्रतीक होता है कि साधक जो भी जप अथवा चिन्तन कर रहा है, वह सफल होने वाला है।

स्वप्न में थोड़ी भूख लगना, रोग–मुक्ति, असाधारण जागरूकता, ज्वलन्त तेज, भविष्य कथन के स्वप्न, उन्मत्तता, जप–अवस्था में संभोग, न मालूम होने वाली थकान तथा सुगन्धि का उड़ना– ऐसे स्वप्न साधक की देवता के प्रति श्रद्धा तथा आदर की दृढ़ता के सूचक होते हैं। ध्यानोत्तर तन्त्र के अनुसार देवता के पलायन के कारण निम्नलिखित हैं–

१. विश्वास का अभाव, २. आलस्य, ३. क्षुधातृष्णा से पीड़ित होना, ४. ध्यान का हटना, ५. दिल का बैठना, ६. कर्मकाण्ड की क्रियाओं में सन्देह, ७. जप और ध्यान से अरुचि, ८. व्यर्थ की बातों में आनन्द लेना ९. निषिद्ध शोकों में संलग्नता, १०. प्रेत–बाधा तथा दुस्वप्नों को देखना– यह बातें देवता के पलायन का कारण बनती हैं।

देवोपासना के कारण

१. रोगमुक्ति, २. आकांक्षामुक्ति, ३. घृणा, अहंकार तथा धोखा आदि से मुक्ति पाना एवं ४. मन को जप में निरन्तर लगाने के लिए ही देवता की उपासना की जाती है।

****



Diagram showing the seed-sounds for control of the flow of forces in the subtle veins. Detail of a manuscript page from Nepal, 18th century. Ink on paper $2\frac{1}{2} \times 10$ (6×25)

१३

कार्य तन्त्र के सिद्धान्त

कार्यतन्त्र के विभाग

इसके दो विभाग हैं–

१. तन्त्र की विभिन्न श्रेणियाँ

२. मार्ग अनुसरण की सीढ़ियों का अध्ययन

कार्य तन्त्र में सबसे प्रमुख तन्त्र "माहावैरोचना अभिसंबोधि तन्त्र" है। इसे विरोचन के द्वारा वर्णित माना गया है। विरोचन का दूसरा नाम विजयीशाक्य मुनि भी है। इनका शरीर संभोगकाया का है। लोकधातु से निर्मित अकनिष्ठ घनव्यूह का नाम है कुसुमलता गर्भालंकार। इसमें फूलों के फर्श हैं तथा इसके भीतर फूलों के ही प्रकोष्ठ बने हुए हैं। इस कुसुमलता गर्भालंकार का वर्णन "वज्रपाणि अभिषेक तन्त्र" में है। तथा इसकी विस्तृत चर्चा "बुद्धावतंशका" में मिलती है।

टिप्पणी– बुद्धगुह्य ने "महाविरोचना तन्त्र" की समालोचना करते हुए कहा है– पहले अध्याय में बुद्ध की चार कायाओं में से दो शिक्षक नहीं हैं। वे हैं– धर्म काया और बौद्धिचित्त। इन दोनों के आशीर्वाचन से शेष दो कायाएँ– १. संभोग काया तथा २. निर्माण काया– धर्म की शिक्षा देती हैं। प्रथम दो कायाऐं वाणी से परे की वस्तु हैं। जबकि अन्य दो व्यापक हैं और अभिव्यक्ति में सक्षम हैं।

इसी स्थान पर बुद्धगुह्य ने कहा है कि धर्म दो प्रकार का होता है– पहला जो स्वयं में पूर्ण हो तथा दूसरा जो कि केवल शास्त्रों में वर्णित हो। पूर्ण धर्म के भी दो विभाग हैं– १. सर्वोच्च अर्थात् परमार्थ तथा २. संवृत्ति

अर्थात् परम्परागत। सर्वोच्च धर्म का लक्षण है– शून्य। परम्परागत धर्म में तीन वस्तु हैं– १. इच्छा, २. आकृति तथा ३. आकृति विहीनता। ये तथागत के शरीर, वाणी तथा मस्तिष्क से निर्मित हैं। इस तन्त्र में मुख्यतः साधक बुद्ध के इन तीनों रहस्यों से जुड़ जाता है। जुड़ने में मुद्रा, धारिणी तथा समाधि का आश्रय लिया जाता है। साधक का उद्देश्य अपनी चित्त संतति अर्थात् चेतना को बुद्ध के दसवें स्वर के बौद्धिसत्व में मिला देना होता है। तब उसे संभोग काया से शिक्षा मिलती है।

"महाविरोचना तन्त्र" तथागत परिवार का है, पद्म परिवार के कार्यतन्त्र शीर्षक के अन्तर्गत कोई भी तन्त्र तिब्बती भाषा में अनूदित नहीं है। वज्र परिवार में वज्रपाणि अभिषेक तन्त्र के बारे में कोई विवाद नहीं है परन्तु "नीलांबरधर वज्रपाणितन्त्र" एवं "वज्रपाताल तन्त्र"– इन दो ग्रन्थों को विद्वान लोग शंका की दृष्टि से देखते हैं।

मार्ग अनुसरण करने की रीति

इसके चार विभाग हैं–

१ अभिषेक (दीक्षा)

२. संबर (शुद्ध आचार)

३. साम्या (संकल्प)

४. प्रारंभिक सेवा (सेवा मार्ग का अनुसरण करने की विधि जो संकल्प लेने के बाद की जाती है।)

सेवा में रूचि होने के बाद ही सिद्धियाँ प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त होता है।

योग

योग दो प्रकार का होता है–

१. मूर्ति के साथ में।

२. बिना मूर्ति के।

पहले योग में देवता शून्य के द्वारा शासित नहीं होता, परन्तु दूसरे योग में देवता शून्य के द्वारा ही शासित होता है। स्मरणीय है कि केवल शून्य का चिन्तन करने से ही कोई बुद्ध नहीं हो जाता। बिना मूर्ति के निराकार योग द्वारा दो प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त नहीं की जा सकतीं। यदि कोई साधक साकार योग से पहले शून्य का चिन्तन करे तो भी वह अकेला निराकार युग में नहीं जा सकता।

सन्मिता योग (साकार योग) – इसमें चार वाह्य सदस्यों द्वारा वाचन किया जाता है तथा चार मानसिक सदस्यों द्वारा वाचन किया जाता है–

आत्म तत्व– यह संभव सिद्धि से अलग नहीं है। संभव सिद्धि का लक्षण है– शून्यता, इसमें साधक शून्य साम्राज्य में अपने मस्तिष्क को चन्द्रमा के प्रभाव में पाता है। वह चन्द्र मण्डल के भीतर ऐसे स्वर्णिम ओम् का ध्यान करता है कि जिससे प्रकाश की किरणें उठ रहीं होती हैं। इन प्रकाश की किरणों से वह स्वयं को ऐसे विरोचन के रूप में ढाल लेता है, जिसके एक मुख तथा दो हाथ हों। उसमें वह सम्पत्ति मुद्रा का आश्रय पाता है। उसके स्वर्णिम शरीर पर प्रकाशमान् माला पड़ी होती है और वह चन्द्रमा तथा श्वेत–कमल के आसन पर आरूढ़ रहता है। उसके मस्तक पर किरीट–मुकुट शोभित होता है। उसके ऊपर तथा नीचे के वस्त्र रेशमी तथा भिक्षुकों जैसे होते हैं। इस स्थिति में वह स्वयं को तथागत के रूप में अपने सामने ही देखता है।

चार आन्तरिक सदस्यों का वाचन

शून्य–क्षेत्र से साधक स्वयं को विजयी शाक्य मुनि के सम्मुख पाता है (अ, आ, अं, अः)– इन शब्दों में।

इसमें यह कल्पना की जाती है कि निष्कलंक चन्द्रमा की एक दर्पण

जैसी थाली है, जिसके दो धरातल हैं। वह अपना ध्यान उस पर केन्द्रित करता है, तदुपरान्त एक स्थिति ऐसी आती है कि वह स्वयम् की काया को देवता की काया के रूप में देखता है! वह चन्द्रमा में वैरोचन को देखता है। यह स्थिति वैरोचन को अथवा उसके हृदय में जब अपना अथवा अपने मन का ध्यान किया जाता है, तब पूर्ण चन्द्राकार थाली के रूप में हृदय में लीन हो जाने वाली होती है। धारिणी के (मन्त्र के) वर्ण का भी चिन्तन किया जाता है। इस स्थिति को ध्वनि में लीन हो जाने की स्थिति कहते हैं। इसमें दो प्रकार के वाचन होते हैं तथा प्राण और अपान को पहले कही भाँति साधा जाता है। वाचन एक लाख बार होना चाहिए।

अनियमित योग

यह निर्णायक ज्ञान है, जो सर्वधर्म की शिक्षा देता है। यह सर्वधर्म शून्य है। इसमें प्रकाश बुद्धि की ओर दृष्टिगोचर होता है तथा देवता की काया शून्य की माया के रूप में दिखाई देती है। इसमें वह विपास्यन (उच्चतम ऊर्ध्व दृष्टि) के गुणों को अपनी ओर आकर्षित करता है। इस योग की व्याख्या विरोचन ने की है। इसे माध्यमिक भवनकर्म के अनुरूप बताया गया है। इस तन्त्र में बताया गया है कि वाह्य पदार्थों, जैसे– खड्ग से सिद्धि प्राप्त होती है, जिसे खड्ग विधाधर कहते है। पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायुमण्डलों का ध्यान अपने शरीर के भीतर किया जाता है। इसमें साधक देवता की प्रसन्नता के लिए वैभव आदि कर्मों को करता है तथा मंजुश्री का आह्वान करता है। उस समय बौद्धिसत्व साधक के मस्तक पर आशीर्वाद का हाथ रखते हुए 'धन्य–धन्य' कहते हैं। "आओ आओ, आओ, दिखाई दो, दिखाई दो"–आदि का वाचन किया जाता है। उस समय समाधि लग जाती है तथा अविस्मरणीय मानसिक प्रकाश की उपलब्धि होती है। इन सिद्धियों को प्राप्त करने के लिए तन्त्रों में अनेक मार्ग बताये गये हैं।

****

१४

योग तन्त्र के सिद्धान्त

योग तन्त्र के विभाग

इसके दो भाग हैं—

१. जिसके द्वारा योग के विधिचक्र को गति दी जाती है, वह रीति।

२. मार्ग को अध्ययन करने की रीति।

विरोचन ने अपनें निर्माण काया द्वारा सुमेरू पर्वत पर निवास किया, वहीं उसने योग तन्त्र के विधि–चक्र को गति दी और उसमें योग कोटि के समस्त तन्त्रों के मूलभूत सिद्धान्तों तथा व्याख्याओं को उद्‌घाटित किया।

योग तन्त्र के मौलिक सिद्धान्तों में 'तत्व संग्रह' नामक ग्रंथ बहुत प्रसिद्ध है। "निदान" की प्रारम्भिक रूपरेखा में विरोचन ने अर्थ पर अधिक बल दिया है। अर्थ से इच्छा उत्पन्न होती है। इच्छापूर्ति के लिए इस तन्त्र द्वारा सिद्धियाँ प्राप्त की जाती हैं। इसमें अधिकतर लौकिक सिद्धियों का ही वर्णन है। इस तन्त्र में वायु क्रिया तथा आध्यात्मिक योग का वर्णन है। योग तन्त्र में सकारण सिद्धियों की प्रशंसा नहीं की गयी है, अपितु निष्पन्न (निष्काम) को अधिक महत्व दिया गया है। योग तन्त्र में उत्पत्ति भावकंर्म (कहाँ उत्पन्न हुआ है, क्या जाति है आदि) शुद्धीकरण का विचार नहीं किया जाता।

मुद्राएँ

इस मार्ग को अध्ययन करने की रीति में मुद्राओं के अर्थ, उनकी श्रेणी तथा क्रमबद्धता को जानना आवश्यक होता है।

राहुलजी के इस मत का समर्थन नहीं होता। उनमें "लुईपाद" का नाम सर्वोपरि है। कुछ विद्वान लुईपाद तथा मत्स्येन्द्रनाथ को अभिन्न मानते हैं।

महायान की शाखा वज्रयान तन्त्र के लिए प्रसिद्धि प्राप्त है। इसमें चौरासी सिद्धों का वर्णन पाया जाता है। सरहपा, शबरपा, लुईपा, पद्मवज्र, जालंधरपा, अनंगवज्र, डोम्बी तथा हेरूक आदि कुछ प्रसिद्ध आचार्यों को वज्रयानी ही माना जाता है।

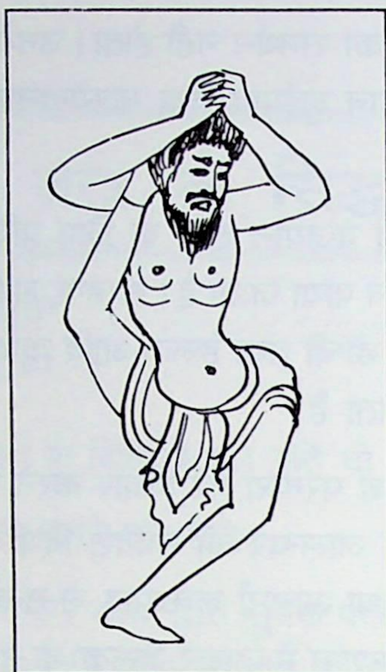
जालंधरपाद की वंश परम्परा पर विचार करने से ज्ञात होता है कि आचार्य कम्बलपाद ने जालन्धर को उपदेश दिया था। उन्होंने आचार्य इन्द्रभूति, लक्ष्मींकरा तथा आचार्य कच्छपाद से तन्त्रों की दीक्षा ली थी। जालन्धरपाद ने ही शमशान में जाकर 'हेरूक' के मण्डल में मुक्त–प्रवेश किया था तथा चार डांकनियों से अभिषेक पाकर "महामुद्रासिद्धि" प्राप्त की थी।

कृष्णपाद (कान्हुपा)

आचार्य सरहपाद ने "हे वज्रतन्त्र" का प्रवर्तन किया था, जिस पर जालंधर पाद तथा कृष्णपाद ने अपनी टीकाएँ लिखीं। 'हे वज्रतंत्र' की कृष्णपाद अर्थात् कृष्णाचार्य द्वारा रचित टीका का नाम "योगरत्नमाला" (हे वज्र पंजिका) है।

कृष्णपाद की टीका "वसन्त तिलक" (वज्रावली) नाम से प्रसिद्ध है। इस ग्रंथ का समय आठवीं शताब्दी का अन्तिम भाग माना जाता है। हे वज्रतन्त्र' में हे वज्र के स्वरूप, साधन, मुद्रा तथा साधन स्थल आदि का विस्तृत विवेचन किया गया है। सरहपाद तथा कृष्णपाद को इस तन्त्र का प्रमुख प्रकाशक माना जाता है।

कृष्णपाद को कुछ विद्वान "कर्नाटक" प्रदेश में तथा कुछ उड़ीसा में



उत्पन्न मानते हैं, जबकि तिब्बतियों की प्राचीन परम्परा के अनुसार इनका जन्म कर्ण देश में हुआ था ये विभिन्न तान्त्रिक क्रियाओं में निपुण थे, जिसके कारण इन्हें घमंड भी हो गया था। एक बार इन्होंने लंकापुरी की यात्रा के समय, अपनी सिद्धियों के अहंकार से ग्रस्त हो, समुद्र को पैदल ही पार करना चाहा था, परन्तु जब ये उसमें डूबने लगे तब इनके गुरू जालन्धरपाद की कृपा ने ही उद्धार किया। इस घटना से इनका अहंकार नष्ट हो, गया। बाद में सिद्धत्व प्राप्त कर लेने पर इनकी प्रसिद्धि बहुत बढ़ गई। तिब्बत के महासिद्धों में शबरी, सरह तथा लुईपाद के साथ ही कृष्णपाद की गणना भी की जाती है। सिंध देश में ठाठा नामक नगर में उत्पन्न एक कान्हुपा का नाथ–पंथी होना भी ज्ञात होता है, जबकि बौद्ध–सिद्धों की सूची में उन्हें बौद्ध माना गया है। बौद्ध चर्यापदों की रचना उनके बौद्ध होने का संकेत देती है, जबकि उनकी नाथ पंथी रचनाएँ नहीं मिलती। बौद्ध कापालिक तथा शैव–तान्त्रिकों में तत्वों तथा वेशभूषा की समानता सिद्धों के साथ सम्पर्क एवं जीवन–यापन– ये सभी बातें

जालंधरपाद के आधे बौद्धत्व की ओर संकेत करती हैं।

कृष्णपाद (कान्हुपा) सिद्ध और आचार्य दोनों ही थे। चर्यापदों तथा दोहाकोष में उनका कवि–रूप भी प्रकट हुआ है। जालंधरपाद के शिष्य कृष्णपाद ने अपने गुरू की तुलना में अधिक रचनाएँ लिखी हैं।

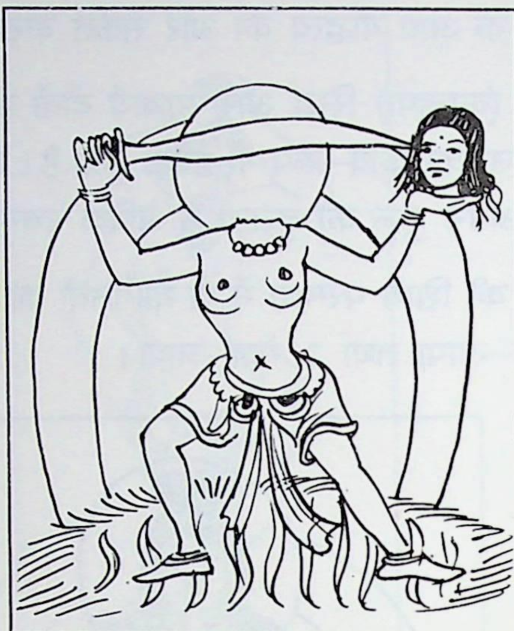
कृष्णपाद की शिष्य परम्परा में दो योगिनयों की गणना भी की जाती है–१. कनख–लापा तथा २. मेख–लापा।



"कनखलापा" को संक्षेप में "कनखला" तथा "मेखलापा" को संक्षेप में "मेखला" भी कहा जाता है।

राहुल सांकृत्यायन लिखित पुरातत्व निबंधावली में इन दोंनों योगिनियों के रेखाचित्रों पर आधारित अनुकृतियाँ यहाँ प्रदर्शित हैं।

इनके मुख्य शिष्य– १. भादेपा, २. महीपा, ३. कन्धालीपा तथा ४. धर्मपाद थे।



जालन्धरपाद

कृष्णपाद के गुरू जालन्धरनाथ अथवा जालन्धरपाद थे। इन्हें जालपा एवं "जालंधरिया" भी कहा जाता है। इनका जन्म सिन्ध देश के ठाठा नामक नगर में एक निम्न जाति के परिवार में हुआ था।



एक मतानुसार ये भोग देश के ब्राह्मण थे। जबकि बंगाली परम्परा के अनुसार ये हाडी तथा हलखोर थे। एक अन्य मत के अनुसार ये राजा ब्रहद्रथ के पुत्र होने के कारण क्षत्रिय थे। इन्हें नवीं शताब्दी में विद्यमान माना जाता है।

ये भौतिक सुखों को त्यागकर बौद्ध भिक्षु बन गये थे। इन्होंने उड्डीयान जाकर आचार्य इन्द्रभूति, भगवती लक्ष्मींकरा तथा आचार्य कचुपाद से सभी तन्त्रों की शिक्षा ली थी। फिर दस दिनों के ध्यान के लिए श्मशान में जाकर "हेरूक–मण्डल" में मुक्त प्रवेश कर चार डाकिनियों से अभिषिक्त होकर महामुद्रा सिद्धि प्राप्त की थी। तदुपरान्त ये ज्वालामुखी (कांगड़ा घाटी) में बहुत समय तक रहे और उसी स्थान के नाम पर "सिद्ध जालंधरी" के रूप में प्रसिद्ध हुए। वहाँ से इन्होंने नेपाल आदि अनेक देशों की यात्राएँ कीं। मालवा में जाकर इन्होंने भर्तहरि को अपना शिष्य बनाया तथा गोपीचन्द्र को भी दीक्षा दी। राजा भतृहरि गोपीचन्द के चाचा थे। विभिन्न रूप धारण करने के कारण ये "बालपाद" तथा "हाड़िया" के नाम से प्रसिद्ध हुए। एकबार इनके शिष्य कान्हुपा (कृष्णपाद) ने इनका जमीन के भीतर से उद्धार भी किया था।

जालन्धरपाद ने आचार्य कम्बलपाद से उपदेश ग्रहण किया था। इनका समय ७०५ ई. के लगभग माना जाता है। मत्स्येन्द्रनाथ, कान्हपा तथा तंत्रिपापाद– इनके प्रमुख शिष्य थे। नाथ–सम्प्रदाय का प्रारम्भ भी इन्हीं से हुआ मानते हैं।

तिब्बती–परम्परा में जालंधरनाथ अर्थात् जालन्धरपाद के दो बौद्ध–गुरु थे– १. आचार्य कम्बल और २. कुरुमपाद। इनके एक गुरु का नाम "कच्छपा" भी था। तिब्बती मान्यता के अनुसार मीनपा तथा मत्स्येन्द्र जालन्धरीपा के शिष्य थे। परन्तु सरहपा के तान्त्रिक गुरु कौन थे, इसका पता नहीं चलता।





Painting illustrating the varying points of sensibility on a woman's body throughout the lunar month. Himachal Pradesh, *c.* 1800. Ink and gouache on paper 6 × 4 (15 × 10)

६

बौद्ध-तन्त्र ग्रन्थों में क्या है

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, बौद्धधर्म में तन्त्र का प्रवेश ''महायान'' के उद्‌भव के साथ हुआ। बौद्धधर्म के प्राचीन तन्त्र सम्बन्धी ग्रंथ संस्कृत तथा अपभ्रंश भाषा में लिखे गये थे। तिब्बती आदि देशों में बौद्धधर्म के प्रचार के साथ ही उन ग्रंथों को तिब्बती आदि भाषाओं में भी अनूदित किया गया। बर्मा, चीन, जापान आदि जिन देशों में बौद्धधर्म का व्यापक प्रचार हुआ, वहाँ उसके प्राचीन स्वरूप (हीनयान) का ही अधिक प्रचलन रहा, परन्तु तिब्बत में ''महायान'' के तान्त्रिक रूप को विशेष प्रश्रेय मिला। आज भी बौद्ध तान्त्रिकों में महायान को विशेष प्रसिद्धि प्राप्त है।

लामा

''लामा'' शब्द तिब्बती भाषा का है, जिसका अर्थ है –भयंकर स्वरूप वाला शोणिताहारी। इससे यह भी प्रतीत होता है कि पहले शोणित का आहार करने वाले एवं भयानक रूप वाले कापालिक–तान्त्रिकों को ही ''लामा'' कहा जाता होगा, परन्तु बाद में यह शब्द बौद्ध गुरूओं के लिए एक उपाधि के रूप में रूढ़ि बन गया।

गुह्य समाज तन्त्र

बौद्धधर्म तान्त्रिक ग्रंथों में ''गुह्य समाज तन्त्र'' को अत्यधिक प्रतिष्ठा प्राप्त है। इसे सर्वाधिक प्राचीन भी माना जाता है। इस ग्रंथ में तान्त्रिक बौध–धर्म अर्थात् ''वज्रयान'' का विविध पक्षीय विवेचन मिलता है। इस ग्रंथ के अनुसार किसी योगी (तान्त्रिक) के लिए सामाजिक–नियमों तथा मर्यादाओं का पालन करना आवश्यक नहीं है। वह उनका उल्लंघन करके

जीव–हिंसा, असत्य–भाषण, पर–द्रव्यापहरण तथा स्त्री–संसर्ग आदि कार्यों को भी स्वतन्त्रतापूर्वक कर सकता है। इसी को "वज्रमार्ग" कहा गया है तथा इस मार्ग का अनुयायी पतित एवं अनैतिक व्यक्ति भी निर्वाण (बुद्धत्व) प्राप्त कर सकता है।

साधन माला और साधन-समुच्चय

इन ग्रंथों में जिन देवी–देवताओं की पूजा–उपासना के लिए मन्त्र आदि का विधान किया गया है, उनमें मुख्यतः ध्यानी बुद्ध, उनके कुल तथा देवी तारा के विभिन्न रूप हैं।

"साधन माला" में वर्णित देवियाँ तारा, विश्वमाता, मरीची, प्रज्ञापारमिता तथा सरस्वती आदि हैं। बोधिसत्व मंजुश्री के अवतार तथा महान देवता "वज्रानंग" का विवरण भी इसमें पाया जाता है। इस ग्रंथ के ३१२ साधनों के लेखक के रूप में अनेक तान्त्रिकों को स्वीकार किया गया है, जिनमें तान्त्रिक असंग, नागार्जुन, इन्द्रभूति, पद्‌मवज्र, लक्ष्मींकरा, सहजयोगिनी चित्रा, रत्नाकर गुप्त, अद्वैत वज्र सरहपाद, रत्नाकर शान्ति तथा श्रीकर आदि प्रमुख हैं।

इस ग्रंथ में मन्त्र मण्डल के तत्व मुख्य हैं। देवी देवताओं के स्वरूप तथा पूजन आदि के लिए इस ग्रंथ का विशेष महत्व माना गया है।

चर्यागीति कोष

इस ग्रंथ के संग्रहकर्ता कान्हुपाद माने जाते हैं, जिनका समय दसवीं शताब्दी था। यह ग्रंथ "चर्याचर्य विनिश्चय" नाम से भी प्रकाशित किया गया है। इसे बौद्ध सहजिया (सहज यान) मत के अत्यन्त प्राचीन "चर्यापदों" (गीतों) का संकलन माना जाता है। इसमें कान्हुपाद या कृष्णपाद के अतिरिक्त अन्य सिद्धों द्वारा रचित "चर्यापद" भी संकलित हैं। इसी प्रकार का एक ग्रंथ सरोज वज्र का "बंगला–दोहा–कोष" भी

है। एक रचना कृष्णाचार्यपाद का "दोहाकोष" भी इसी श्रेणी में आती है। उदाहरण--स्वरूप कुछ चर्यागीत आगे दिए गए हैं।

आदिकर्म प्रदीप्त पद्धति

योग तन्त्र तथा अनुत्तर योगतन्त्र के अन्तर्गत आने वाले ग्रंथों में "आदिकर्म प्रदीप्त पद्धति" में प्रतिदिन की क्रियाओं ध्यान, दीक्षा, प्रार्थना आदि की विधियों का उल्लेख मिलता है। "अष्टमीव्रत विधान" में व्रतों, मुद्राओं तथा यन्त्र–मन्त्र सहित प्रार्थनाओं जैसे– 'हुँ हुँ फट् फट् स्वाहा' का प्रयोग न केवल बुद्धों एवं बोधिसत्वों, अपितु शैव देवताओं के लिए भी स्वीकार किया गया है। इस ग्रंथ में देवताओं के रूप, आकार आदि का भी विस्तृत वर्णन मिलता है।

हे वज्रतन्त्र

यह वज्रयान का सर्व प्रमुख तन्त्र ग्रंथ है। जिसमें देवता "हेरुक" के स्वरूप, उनकी शक्ति तथ साधन विधि का विस्तृत उल्लेख किया गया है। यह ग्रंथ भी मूलतः संस्कृत भाषा में है। इसे बौद्ध तान्त्रिक सम्प्रदाय का आधार ग्रंथ भी कहा जा सकता है।

इनके अतिरिक्त "क्रिया समुच्चय" आदि और भी अनेक प्राचीन तथा अधुनातम ग्रंथ पाये जाते हैं।



Gri-gug, ritual flaying-knife. Tibet, 18th century. Bronze and steel l. 6 (15)

७

पूर्ण बुद्धत्व का लाभ

रत्न शिखिल, दीपंकर और विपास्यन

महायान तथा हीनयान के सिद्धान्तों में ऐसी प्रणालियाँ दी गई हैं, जिनका अनुकरण करके पूर्ण बुद्धत्व का लाभ प्राप्त किया जा सकता है। महायान तथा हीनयान स–वकास प्रणालियों में बँटे हुए हैं। "बौद्ध चितोपदिका" जिसे निर्वाण का विचार–शास्त्र भी कहा जाता है, में बताया गया है कि शाक्य मुनि ने इसी साधन मार्ग का अनुसरण किया था। उन्होंने साधनों के एकत्रीकरण का नाम "सम्भार" दिया है।

यह सम्भार तीन असंख्य कल्पों में प्राप्त किये गये हैं। जब तथागत 'रत्नशिखिन' इस संसार में प्रकट हुए तब उन्होंने पहला असंख्यकल्प पूरा किया। जब तथागत 'दीपंकर' इस संसार में आये तो उन्होंने दूसरा असंख्यकल्प पूरा किया और जब तथागत 'विपास्यन' का प्राकटय् हुआ तो उन्होंने तीसरा कल्प पूरा किया।

कहा जाता है कि विपास्यन ने सौ कल्पों तक सम्भारों का एकत्रीकरण किया। ये सम्भार उनके बत्तीस लक्षण तथा ८० चिन्हों के कारण है। अन्तिम रूप में वे अर्थात् विपास्यन सम्राट शुद्धोदन के पुत्र राजकुमार सिद्धार्थ के रूप में उत्पन्न हुए।

कहा जाता है कि विपास्यन ने तीन असंख्य कल्पों में साधना पूरी करली थी तथा गोधूलिवेला के समय जब उन्होंने "मार" अर्थात कामदेव पर विजय पाई तो उन्हें यात्री के नाम से विभूषित किया गया। ३५ वर्ष की आयु में वैशाख मास की पन्द्रहवीं तिथि अर्थात् पूर्णमासी को गोधूलिवेला में उन्होंने काम को पराजित किया था।

अर्द्ध–रात्रि सम्पत्ति की वेला में उन्होंने दीक्षा दिव्य–दृष्टि एवं गहन चिन्तन के मार्ग को प्रकाशित किया। उषःकाल की प्रथम आभा में उन्होंने दीक्षा–मार्ग से आगे बढ़कर पूर्ण निर्वाण अर्थात् अभि–सम्बुद्ध का रूप ग्रहण किया।

४६ दिनों के बाद उन्होंने वाराणसी में 'धम्मचक्र' अर्थात् धर्म चक्र का प्रवर्तन किया, जिसमें चार श्रेष्ठ सत्यों को उद्घटित किया गया था। विद्वानों का कहना है कि उन्होंने किसी नवीन धर्मचक्र की उद्भावना नहीं की थी और न वृहत्तर महायान को ही जन्म दिया था। ८० वर्ष की आयु में उन्होंने निर्वाण में प्रवेश किया।

इस मार्ग के अनुयायी भूमि के दस रूढ़िवादी सिद्धान्तों का अनुसरण नहीं करते और वे पूर्ण सम्भोग काया पर ही जोर देते हैं, वे सम्भार अथवा परम निर्वाणकाया पर भी जोर नहीं देते, क्योंकि बुद्धत्व प्राप्ति के लिए उपर्युक्त बातों की धर्मकाया अथवा रूपकाया की आवश्यकता नहीं होती।

वैभाषिक लोग मानते हैं कि राजकुमार सिद्धार्थ का शरीर एक सामान्य व्यक्ति का शरीर था। सामान्य शरीर के कारण ही उसने कर्म के कारण तथा क्लेश से उत्पन्न होने वाले दुःख सत्य को उद्घटित किया। यहाँ तक कि बुद्धत्व प्राप्त होने पर भी उसकी काया में दुःख–सत्य की धारा प्रवाहित होती रही, इसी कारण यह भी कहा जाता है कि बुद्ध की पूर्व काया बुद्ध नहीं थी।

सौत्रान्तिक कहते हैं कि इसका खण्डन इस तथ्य से हो जाता है कि ऐसी घटना में तथागत के रक्त बहते हुए तथा कुविचार पूर्ण शरीर का शीघ्र परिवर्तन (आनन्तर्य अन्तरण) नहीं होता।

परमिता विचारधारा

महायान में परामित्त (परमिता) मन्त्र पद्धतियाँ हैं।

पहले असंख्य कल्प में उसने साधन तथा शिक्षण (दीक्षा) के मार्ग को पूरा किया। उसने प्रथम तथा सप्तम स्तर के बीच वाले द्वितीय साधन तथा शिक्षण को पूरा किया। तीसरे, आठवें, नवें तथा दशमें स्तर पर उसने तीसरे असंख्य कल्प को पूरा किया। अन्तिम जन्म (कर्मभाविका) में अकनिष्ठ स्वर्ग की दस दिशाओं के समस्त (दस) बुद्धों ने उसे 'धन–व्यूह' प्रदान किया। जब अन्तिम ज्ञान दसवें स्तर पर पूर्ण हुआ, तब उसने वज्रोपम समाधि को भी प्राप्त किया। उसके दूसरे ही क्षण उसमें 'समतान' का प्रवाह उठा, तब उसमें धर्मकाया तथा सम्भोग काया को प्राप्त किया, इस प्रकार वह सम्पूर्ण बुद्ध बना।

सम्भोग काया के ५ लक्षण हैं-

१. स्थाननिष्ठा (यह अकनिष्ठ स्वर्ग से बाहर नहीं जाता)।

२. सिद्धान्त निष्ठा (यह केवल महायान सिद्धान्त का ही उद्घोष करता है, हीनयान का नहीं)।

३. कायनिष्ठा (इसमें ३२ लक्षण तथा ८० गौण चिन्ह होते हैं)।

४. परिजन निष्ठा (इसमें दसवें स्तर के बौद्धिसत्व सम्मिलित हैं, सामान्य जन नहीं)।

५. समयनिष्ठा, जबतक संसार चक्र दुख–सत्य से मुक्त नहीं होता, तब तक यह निर्वाण मार्ग को प्रशस्त नहीं कर पाता।

अकनिष्ठ-स्वर्ग और घन व्यूह

'अकनिष्ठ–स्वर्ग' की स्थिति देवताओं के स्थानों की अन्तिम सीमा में हैं। यह सात्विक देवताओं का शुद्ध आवास है। अकनिष्ठ के आगे बुद्ध–क्षेत्र हैं, जिसे घन–व्यूह' कहा जाता है।

सूत्र कहते हैं– शुद्धवास को त्यागकर, इन्द्रियातीत आनन्दमय

अकनिष्ठमय रहकर पूर्ण चैतन्य तथा पूर्ण बुद्ध होने के कारण वह अकेला स्वनिर्मित बुद्ध हो गया।

सम्भोग काया अकनिष्ठ में निवास करती है तथा निर्वाण काया सांसारिक लोगों के लिए १२ क्रियाओं के कार्यान्वित होने का मार्ग दिखाती है।

शाक्यमुनि का बुद्ध क्षेत्र

शाक्यमुनि के बुद्धक्षेत्र में सहलोक–धातु की विचारधारायें तथा चार महाद्वीपों की सैकड़ों विचार धारायें हैं। इस प्रकार जम्बू द्वीप की सैकड़ों दार्शनिक प्रणालियों तथा उनके विजेता शाक्य मुनि की बारह क्रियाओं ने सौ बार में भी न गिने जाने योग्य रूप में स्वयं को उद्घाटित किया। इस प्रकार तिस्ता नदी के स्थान से समय की सौ प्रणालियाँ उद्घाटित हुईं।

सौ असंख्य सम्राट शुद्धोदन के पिता तथा सौ अति सुन्दर माया महारानी मातायें तथा पुत्र राजकुमार सिद्धार्थ के पुर्नजन्म के तरीकों को समय की सौ विचार धाराओं में उद्घाटित किया गया है।

इसी प्रकार युवावस्था की उच्छश्रखंलता, रनिवास की स्त्रियों के साथ किलोलें, गृह त्याग का कठोर अनुशासन, प्रकाश के वृक्ष के नीचे की ओर जाने का मार्ग, कामदेव को परास्त करना, पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति, धर्मचक्र का प्रवर्तन तथा निर्वाण में प्रवेश ये सब सैकड़ों असंख्य कालों में उद्भाषित हुए हैं।

"निर्वाण के क्षेत्र में प्रवेश करने के तरीके सौ असंख्य कालों में उद्घाटित हुये हैं तथा दूसरे क्षेत्रों में जहां पुनर्जन्म हुआ तथा जहां भी बुद्धत्व प्राप्त हुआ और जहां भी धर्मचक्र चलाया यह सब भी क्रमशः सौ असंख्य कालों में उद्घाटित हुये हैं और जब तक दुःखमय जीवन का अन्त नहीं होता

ये निरन्तर उद्घाटित होते रहते हैं।" इस प्रकार की विचारधारा महायानोत्तर तन्त्र में वर्णित है।

संसार को जानने वाला बड़ी करूणा से इस संसार का निरीक्षण करता है तथा धर्मकाया को गति दिये बिना निर्वाण काया से विभिन्न कायाओं के द्वारा, अशुद्ध क्षेत्रों में अपना खेल प्रदर्शित करता है तथा संसार के जीवन प्रवाह की अवधि के लिए दैदीप्यमान अवतारों में जन्म लेता है।

१२ क्रियायें निम्नलिखित हैं-

१. तिस्ता से अवतरण

२. कोख में प्रवेश

३. पुनर्जन्म

४. सांसारिक कायाओं में दक्षता

५. रनिवास की स्त्रियों के साथ क्रीड़ा

६. गृह त्याग

७. कठोर अनुशासन

८. प्रकाश का मार्ग

९. काम–विजय

१०. पूर्ण प्रकाशित होना

११. धर्मचक्र प्रवर्तन

१२. निर्वाण।

पाँच अभिसम्बोधि

बुद्धत्व प्राप्ति के बाद दसों दिशाओं के बुद्धों ने पहले उसका वस्त्राभिषेक और फिर मुकुटाभिषेक किया, तत्पश्चात् उन्होंने उसे गहन चिन्तन में डूब जाने के लिए कहाकि "अभिसम्बोधि" पर विचार करो। ५ अभिसम्बोधि

के बाद वह पूर्ण बुद्ध हो गये। जिसे 'महावैरोचना' कहा जाता है, उसी को सम्भोग काया भी कहते हैं। बुद्ध होने के बाद उन्होंने चार प्रकार के चमत्कार किये। कहा जाता है कि फिर सुमेरू पर्वत पर जाकर उन्होंने योगतन्त्र का उद्घाटन किया। फिर वे सांसारिक लोगों के समीप निरंजना नदी के तट पर पहुँचे, तदुपरान्त उन्होंने "मार" को परास्त कर, पूर्ण बुद्धत्व का मार्ग प्रशस्त किया।

विकुर्वाण के द्वारा प्राप्त पाँच अभिसम्बोद्धियाँ निम्नलिखित हैं–

१. प्रथम अभिसम्बोद्धि, इसका अर्थ है प्रत्ययावेग संघ अर्थात् अच्छे–बुंरे का भेद करके आत्म–ज्ञान को प्राप्त करने की स्थिति। इसका मन्त्र उन्हें दस–दिशाओं के बुद्धों द्वारा प्राप्त हुआ, इसे "चित्तप्रतिवेदन" कहा जाता है।

२. परम बौद्धिचित्तापदा के द्वारा जो आत्म प्रकाश और आत्म ज्ञान प्राप्त होता है, वह दूसरी अभिसम्बोधि है।

३. प्रत्यग्रा वेगासना का ज्ञान, जो उसे प्राप्त हुआ, यह अमित्तआभा का निचोड़ है। यह ज्ञान दृढ़–वज्र के द्वारा प्राप्त हुआ और इस स्थिति को पाने के लिए उसने तिष्ठावज्र मन्त्र का उच्चारण किया। इसके बाद दस देवताओं ने उसका नाम बौद्धिसत्व वज्रधातु रखा तथा उसे "वज्रसत्वमाकोअहं' अर्थात् "मैं वज्र हूँ' मन्त्र दिया। इस प्रणाली के पूर्ण होने पर काय, वाक् तथा चित्त वज्रधातु हो गये, इसके द्वारा उसे क्रियानुष्ठान का ज्ञान प्राप्त हुआ।

४. चौथी अभिसम्बौद्धि वज्रसत्व के द्वारा प्राप्त होती है। मंत्र जप की स्थिति में उसने यह चिन्तन किया कि आकाश की दसों दिशाओं से प्रकाश का स्रोत प्रवाहित हो रहा है और वह प्रकाश पाँच श्वेतवज्रों से प्रवाहित है। साथ ही सभी तथागतों की काया, वाक् तथा मन के वज्र तत्व उनके

हृदयों से प्रकाशित हो रहे हैं।

५. पाँचवीं अभिसम्बौद्धि यह है "ॐ यथा सर्व तथागता तथोऽहम्" – अर्थात् "जैसे तुम हो वैसा ही मैं हूँ।"

150 Tanka representing the Supreme Buddha Vajrasattva synthesizing maṇḍalas. At centre top is the Dharmakaya Buddha Samantabhadra with consort. Tibet, 18th century. Gouache on cloth 26 × 18 (66 × 46)

१५

अनुत्तर तन्त्र के सिद्धान्त

अनुत्तर तन्त्र के विभाग

इसके तीन विभाग हैं–

१. दो तन्त्रों का वर्गीकरण
२. वर्गीकृत तन्त्रों का अर्थ
३. विषय वस्तु को समझाने की पद्धति

१. **दो तन्त्रों का वर्गीकरण**– सम्वरोदय, वज्र पजर, बुद्ध कल्प तथा अन्य अनुत्त योग तन्त्रों के अनुसार अनुत्तर योग तन्त्रों को मुख्यतः महायोग तन्त्र तथा योगिनी तन्त्र में विभाजित किया गया है। "काल चक्र" तथा दूसरे प्रामाणिक ग्रंथों के अनुसार अनुत्तर योग तंन्त्र को मूलतः उपाय तन्त्र एवं प्रज्ञान तन्त्र के रूप में जाना जाता है। वज्रहृदयालंकार तथा अन्य डाक तन्त्र तथा अन्य तन्त्र डाकिनी तन्त्र की भी चर्चा करते है।

यह बड़े आश्चर्य की बात है कि महायोग तन्त्र तथा डाक तन्त्र पृथक होते हुए भी एक ही अर्थ से संब्रंध रखते हैं। इसी प्रकार योगिनी तन्त्र, प्रज्ञान तन्त्र तथा डाकिनी तन्त्र भी एक ही अर्थ की विशेषता लिए हुए हैं। अलवत्ता, योग तथा अनुत्तर योग भिन्न होते हुए भी, सम्मिलित रूप में 'योग तन्त्र' के नाम से ही जाने जाते हैं।

२. **वर्गीकृत तन्त्रों के अर्थ**– कुछ विद्धान् अनुत्तर योग को विभाजित कर इसे तीन स्वतन्त्र रूपों में प्रतिपादित करते हैं–

१. पितृ तन्त्र, २. मातृ तन्त्र, ३. अद्वैत तन्त्र।

उनके मतानुसार एक तन्त्र की साधना करने वाले आचार्य, शिष्य अथवा

साधक दूसरे तन्त्र से कोई संबंध नहीं रख सकते। परन्तु इस विचारधारा का कोई प्रामाणिक तथ्य निरूपित नहीं किया गया है। केवल इतना कहा गया है कि ऐसा मैने सुना है।

पंजर तथा सम्पुष्ट ग्रन्थों में इस विचारधारा को मान्यता नहीं दी गई है। अर्थात् उच्चतम या अन्य तन्त्र गोपनीय तन्त्र का अन्तिम संबन्ध अद्वेत तन्त्र से है न कि मातृ तन्त्र से, जैसा कि गुह्य समाज में प्रतिपादित है।

अद्वैत तन्त्र अद्वैत है, संवर तन्त्र (जिसका मातृ तन्त्र से संबंध है) उसका स्थान नहीं ले सकता। वस्तुतः एक ही तन्त्र को तीन विभागों में बाँटने की और फिर स्वतन्त्र रूप देने की प्रणाली ही तन्त्र के मूल उद्देश्य, अर्थ तथा सन्दर्भ को अस्पष्ट बना देती है। अतः अनुत्तर तन्त्र उपाय और प्रज्ञान (अर्न्तदृष्टि से अभिन्न है) एक किवदन्ती के अनुसार बोधसत्वों ने गुरु से पूछा कि अनुत्तर तन्त्र योग का तात्पर्य क्या है? इसके उत्तर में गुरु ने कहा– सम समाप्ति का उपाय और अन्तदृष्टि में प्रविष्ट होना ही योग है। अतः पितृ और मातृ तन्त्र को क्रमशः उपाय एवं प्रज्ञान के आधार पर विभाजित करना असंगत है।

अनुत्तर तन्त्रों को पितृ–मातृ तन्त्रों के अतिरिक्त ध्वनि तन्त्र में भी निरूपित किया गया है। ध्वनि तन्त्र में वज्रधर द्वारा प्रतिपादित अनुत्तर तन्त्र संबंधी समस्त गद्यांश मिलते हैं। विषयवस्तु को समझने के लिए ध्वनि तन्त्र के तीन विभाग किए गए हैं–

१. हेतु तन्त्र, २. उपाय तन्त्र, ३. फलतन्त्र।

हेतु तन्त्र और प्रकृति तन्त्र एक जैसे हैं, जबकि उपाय तन्त्र और मार्ग तन्त्र एक जैसे हैं। प्रकृति तन्त्र की प्रशंसा करते हुए यह कहा गया है कि इसे हीरे के समान जगमगाते हुए व्यक्ति ही धारण कर सकते हैं।

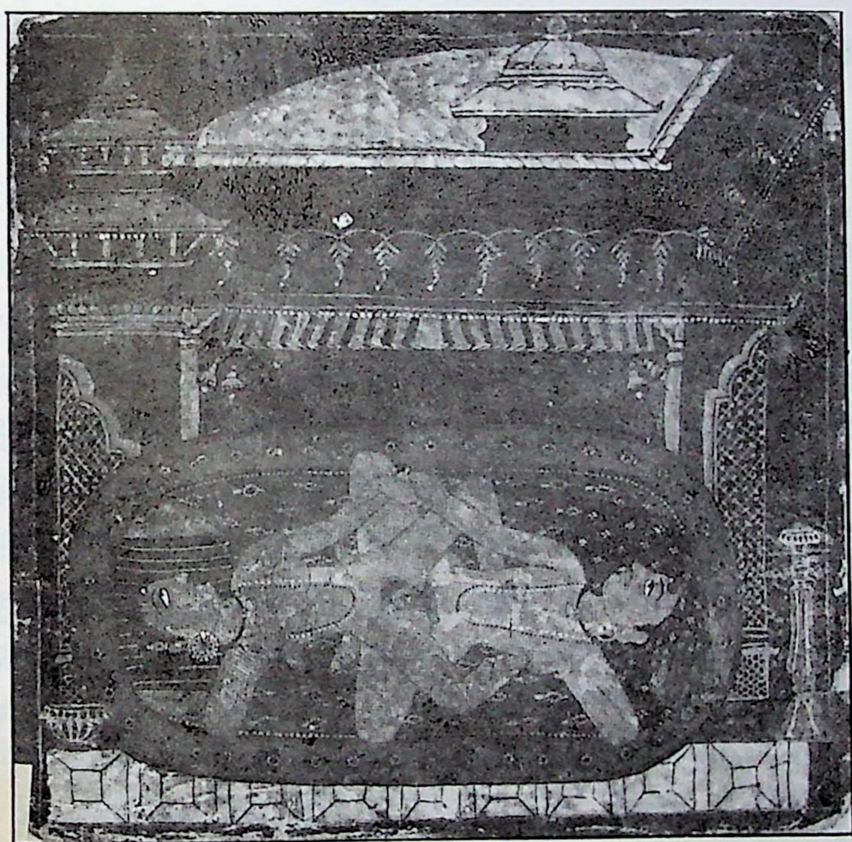
फल तन्त्र के द्वारा उच्चतम फल की प्राप्ति होती है तथा प्रार्थी वज्र–

धर का पद प्राप्त करता है।

मार्ग तन्त्र की पद्वति से उच्चतम फल की प्राप्ति होती है। इसमें उत्पत्ति कर्म तथ निष्पादित–कर्म का उनके अनुभव के साथ अनुसरण किया जाता है।

****

The sexual posture Mūla bandha. Nepal, c. 1700. Gouache on paper 7 × 7 (18 × 18)



१६

दीक्षा-प्रणाली

दीक्षा–प्रणाली दो प्रकार की मानी गई है–

१. शिष्य के चेतना प्रवाह को प्रगाढ़ बनाने की धार्मिक प्रक्रिया।

२. देवता को कर्मकाण्ड द्वारा शुद्धिकरण अथवा उत्सर्ग की प्रक्रिया।

शिष्य को दीक्षित करने की प्रक्रिया

इस प्रणाली का दो चरणों में समापन होता है–

१. मण्डल प्रविष्टि

२. प्रविष्टि प्राप्त साधक की दीक्षा

मण्डल प्रविष्टि– प्रविष्टि के अवसर पर पहले साम्य (संकल्प) और सम्बर (शपथ) ग्रहण करने का प्रावधान है। इस पद्वति में अति गम्भीरता अति आवश्यक है, क्योंकि इनसे मिलने वाले लाभ अत्यन्त गरिमायुक्त हैं और सदैव ऊर्ध्व गतिशीलता बनाये रखते हैं। पाँच कुलों अथवा परिवारों का सम्बर उठाया जाता है। यदि असाधारण सम्बर (शपथ) परम्परागत विनष्ट मन्त्रों से युक्त हो तो नये मन्त्रों की रचना करली जाती है। खण्डित अथवा उल्लंघित मन्त्र का संशोधन भी कर लिया जाता है। प्रत्येक कुल के तीन बार सम्बर ग्रहण करने का विधान है। केवल अनुज्ञा प्राप्त करनी हो और साधक गुरु या शिष्य अकेला ही अभिसाम्य का चिन्तन करता हो तो पाँच कुलों में से प्रत्येक के लिए तीन बार सम्बर वाचन किये जाते हैं। इसमें सावधानी यह है कि सम्बर के प्राचीन परम्परागत मन्त्रों का संशोधन नहीं किया जाता और न ही नवीन मंन्त्रों की रचना की जाती है।

सम्बर लेने के तीन समय हैं। इसमें तीन वृहद रथ मार्ग साधना के लिए मार्ग–दर्शन करते हैं।

१. शिष्य को साधना के लिए तैयार करने के समय का सम्बर। अन्य किसी समय नहीं।

२. मण्डल प्रविष्टि के समय का सम्बर। प्रविष्टि–समय के अतिरिक्त अन्य अवसर अथवा समय पर नहीं।

३. उपर्युक्त दोनों समयों पर.।

इन तीन अवसरों में से किसी को भी चुना जा सकता है। यदि दूसरे आवश्यक कर्मकाण्ड साथ–साथ पूरे कर लिए जायें तो सम्बर का जन्म हो जाता है। उपर्युक्त तीन मार्गों का परस्पर कोई टकराव नहीं है, अतः यदि एक ही मार्ग पर चलना पड़े तो गलती अथवा भूल का कोई पश्चाताप नहीं करना पड़ता।

इतना ही नहीं, शिष्यों को शपथ दिलाने से पहले अथवा गुरु को स्वयं मण्डल में प्रविष्ट होने से पहले गुरु, आचार्य अथवा तांत्रिक को आदेशों और सामान्य वार्तालाप द्वारा दृढ़ निश्चय प्रदान करना चाहिए कि उसे उसके लिए कौन सी वस्तु अच्छी, बुरी, ग्राह्य अथवा त्याज्य है। इसके पश्चात् शिष्य सम्बर के लिए उत्सुक होता है, तब गुरु तान्त्रिक उसके मन–मस्तिष्क में उत्साह, ओज ऊर्जा धारण द्वारा, शिष्य द्वारा लिए जाने वाले सम्बर के संरक्षण में सहायक बनता है।

यदि दीक्षा के अभिलाषा का पंक्तिबद्ध जमावाड़ा हो, और वे सामान्यतः अथवा जिज्ञासावश ही सम्बर ग्रहण करना चाहे तो गरिमायुक्त दीक्षा प्रणाली असफल सिद्ध होगी और वे लोग दीक्षा के फल को कदापि प्राप्त नहीं कर पायेंगे।

आर्यसंग और दूसरे विद्वानों के अनुसार शिष्य बनाने की प्रणाली में

– शिष्य को सम्बर का पाठ करना होता है (मस्तिष्क में अनुभव होने वाले आनन्द ज्ञान) यह पाठ उसे अपने गुरु के साथ या अपने पूर्वगामी आचार्य का ध्यान करके करना पड़ता है। परम्परा यह है कि पहले गुरु पाठ करें, उसके पीछे शिष्य वाचन करें।

जब गुरु मण्डल में प्रविष्टि कराये तो उस समय शिष्य को यह दृढ़ विश्वास तथा सन्तुष्टि होनी चाहिए कि मण्डल के स्वामी तथा गुरु भिन्न नहीं हैं। वे एक दूसरे से पृथक नहीं है। इसी विश्वास को धारण करते हुए गुरु के सम्बर–वाचन के पश्चात् शिष्य को सम्बर वाचन करना चाहिए।

गुरु अथवा आचार्य को उपर्युक्त सब बातों का ध्यान रखना होगा क्योकि मन्त्र–साधना, मन्त्र पथ और मन्त्र मार्ग के लिए तथ्य आधार भूत नींव जैसा है।

मन्त्र सम्बर का जन्म दीक्षा से ही हुआ है, पर इसकी जननी सम्पूर्ण दीक्षा नहीं है। इसकी तुलना (मन्त्र सम्बर की) एक भिक्षु से की जा सकती है, जो ज्ञानाप्ति चतुर्थ कर्म द्वारा ही स्वरूप धारण करता है। ज्ञानाप्ति चतुर्थ कर्म से ही भिक्षु उत्पन्न होता है।

यदि शिष्य कर्मकाण्ड की मुख्य आधारभूत प्रणाली के तत्व में पूर्णता प्राप्त कर ले तो उसे भिक्षु सम्बर दीक्षा मिल जाती है। इससे यह समझना चाहिए कि उसने ज्ञानाप्ति चतुर्थ कर्म मार्ग का तीन चौथाई मार्ग तय कर लिया है।

प्रविष्टि प्राप्त साधक की दीक्षा- अनुत्तर तन्त्र में चार मुख्य दीक्षाओं का वर्णन है–

१. कलश दीक्षा, २. गुह्य दीक्षा, ३. आन्तरिक ज्ञान दीक्षा, ४. तुर्य (अक्षर) अभिषेक दीक्षा।

कलश दीक्षा- इसके चार विभाग हैं–

१. मण्डल वर्ग (इसमें मण्डल का चयन होता है)

२. मण्डलों का वर्ग।

३. मण्डल के नैसर्गिक गुण स्वभाव,

४. मण्डल की प्रभावोत्पादकता अथवा क्षमता।

कलश-मण्डल

कलश मण्डल—से तात्पर्य उस मण्डल से है, जो कलश को प्राप्त करता है।

कलश दीक्षा को रंगों के पाउडर अथवा चित्रित वस्त्रों के मण्डलों द्वारा प्राप्त तो किया जाता है, लेकिन पूर्ण मण्डल के निवासी कलश को पकड़ते नहीं हैं और न ही दीक्षा के कार्य करते हैं। केवल मण्डल में आमन्त्रित देवता ही इस कार्य को करते हैं। लोकाना और अन्य ही कलश ग्रहण करते हैं। हाँ उपाध्याय और आचार्य मण्डल को ऊँचा उठाते हैं। आचार्य मण्डल के पूर्णत्व के बाद उसमें स्थित निवासियों को भेंट (आमन्त्रित देवता इत्यादि की) देता है और शिष्य आचार्य से कृपा की अपेक्षा रखते हुए विनय प्रार्थना करता है।

कलश परिमाण

"गुह्य समाज" विचारधारा के विद्वान दीक्षा के लिए ११ कलशों का समर्थन करते हैं। उच्चस्तरीय दीक्षा को यदि शामिल करें तो यह संख्या १४ तक हो सकती है। तन्त्र "वज्रमाला" में यह कहा गया है कि प्रत्येक दीक्षा मे भूमि होती है। इसमें १४ भूमियों का वर्णन है।

वज्रशिष्य— अभिषेक में साधारण कलश पर्याप्त है, परन्तु वज्राचार्य अभिषेक में असाधारण कलश की आवश्यकता होती है।

आगे पाँच प्रकार के वर्गीकरण मिलते हैं—

१. अक्षोम्य में तया सेक (जल शिक्षा)

२. रत्न संभव में मौलि सेक

३. अमिताभ में वज्र सेक

४. अमोध सिद्धि में घण्टा सेक

५. वैरोचन में नाम सेक

इसके अतिरिक्त "विधा सेक" का उल्लेख भी मिलता है।

इसके द्वारा विधा–ज्ञान प्राप्त किया जाता है, जो कि अविधा की काट है।

१. वैसे प्रथम दीक्षा तोयासेक को "अभयंकरा" के नाम से भी जाना जाता है। इसे पुष्पमाला की दीक्षा भी कह सकते हैं। यद्यपि ११ कलश–दीक्षा में इसका उल्लेख नहीं मिलता, फिर भी इस दीक्षा को प्राप्त करना अति आवश्यक है। इस क्रिया में गुरु शिष्य को यह समझाने में समर्थ होता है कि फल जिस देवता की ओर गिरेगा, वह तथागत परिवार में पूर्ण (आनन्द या निर्वाण) प्राप्त कर लेगा। "तोया सेक" द्वारा वह गन्दगी धुल जाती है, जो तथागत परिवार में शामिल होकर आनन्द प्राप्त होने के मार्ग में बाधा बनी रहती है।

२. "मौलि सेक"–से दीक्षित होने पर वह उस निर्दिष्ट परिवार में बुद्ध बन सकता है। इसमें ३२ लक्षण प्राप्त होते हैं तथा परिवार गुरु के कार्य का सम्पादन कर सकता है।

३. "वज्रसेक"–की दीक्षा से उस निर्विकल्प ज्ञान की प्राप्ति होती है, जोकि परिवार के बुद्धत्व के मन मस्तिष्क से संबंधित है।

४. "घन्टासेक"–दीक्षा से परिवार के बुद्धत्व की वाणी प्राप्त होती है, जिससे प्रार्थियों के सिद्धान्त धर्म की शिक्षा, धैर्य के चौरासी हजार द्वारों से होकर दी जा सकती है।

५. नामसेक–से पुरानी भविष्यवाणी सिद्ध होती है। "तुम तथागत के नाम से जाने जाओगे, जब उस परिवार के बुद्ध हो जाओगे"।

यह पाँच दीक्षाएँ विभिन्न परिवारों अथवा कुलों के आधीन हैं। आचार्य के माध्यम से वज्राचार्य अभिषेक प्राप्त करके वज्रधर की उपाधि मिलती है, इससे इसे उपाधि ग्रहण करने वाले की देह, वाणी, मन–मस्तिष्क अखण्डित वज्र का रूप धारण कर लेती है, तभी वह तुलनात्मक आनन्द (निर्वाण) अथवा पूर्णनिर्वाण को आबाध गति से प्राप्त कर सकता है। वज्रध ार की तुलना त्रयधातुक धर्मराज से की जा सकती है। यह उपाधि बुद्ध–गण उन बोधिसत्वों को प्रदान करते हैं, जिन्होंने १० स्तर पूर्ण कर लिए हैं। त्रन्य धातुक का अर्थ तीन जगत से है। इस शिक्षा से आचार्यत्व के पूर्ण अधिकार प्राप्त होते हैं, तब वह दूसरे प्रार्थियों को दीक्षा देने में सक्षम हो जाता है।

कलश-दीक्षा

"कलश दीक्षा" का आवश्यक स्वभाव अथवा विशेषता– जब "तीक्ष्णेन्द्रिय" से अभिभूत होकर तोयासेक और मौलिसेक दीक्षा प्राप्त कर ली जाती है तो उसमें सुख का प्रादुर्भाव होता है। फिर शून्यत्व प्राप्त करता है। इस सुख, शून्यत्व एवं सुख–शून्य का अनुभव करना अत्यन्त आवश्यक है। अनुभव न कर पावे तो भी दृढ़ विश्वास से इन तीन अवस्थाओं का चिन्तन तो करना ही पड़ेगा।

पाँच कुलों, सदेह के तीन वज्रों में, वाणी, मन अलग न होने में अभिन्न रूप से वज्रधर में कुल पुरोहितों में सबमें देवताओं का मण्डल निवास करता है। इन देवताओं के लिए सुन्दर कलशों का निर्माण किया जाता है। इस क्रिया से निर्माण काया की दक्षता प्राप्त होती है जो चार देहों में फलप्रद स्तर प्रदान करती है।

गुह्य दीक्षा

मण्डल जिसमें दीक्षा प्राप्त की जाती है, उसे "भाग मण्डल" नाम से जाना जाता है। कालचक्र के अनुसार "भाग मण्डल" में दीक्षा के दौरान

शिष्य को भाग का दिग्दर्शन करा दिया जाता है। यह भाग मण्डल की एक तान्त्रिक विशेषता है। दूसरे तन्त्रों में ऐसी व्यवस्था नहीं है।

यद्यपि यह भी कहा गया है इस विधा में कर्ममुद्रा द्वारा दीक्षा दी जाती है। रत्न के समान जगमगाते हुऐ व्यक्ति अनुत्तर तन्त्र की इस ऊर्ध्वगामी दीक्षा (कर्ममुद्रा से) को प्राप्त करते हैं। इसमें कर्म मुद्रा की समस्त विशेषताओं को धारण करते हुए, गुरु मण्डल के समस्त देवताओं को देखता हुआ, उनको आमन्त्रित कर, अपनी स्वयं की देह में धारण करता है। तब वह विद्या से समागम करता है। जब बिन्दु रूप भूत (वीर्य) तीव्र वासना की आग में पिघल कर (माता) के पद्म में गिरता है और माता के रज धातु में मिश्रित होता है, तब वह बोधिचित्त मण्डल को प्राप्त कर लेता है।

यह प्रणाली इस प्रकार है कि पिता माता की युग्म अवस्था में, माता–पिता की तर्जनी अँगुलियों से रक्तिम और श्वेत तत्व लेकर जीभों पर धारण करते हैं।

यह तत्व--रस गले में पहुँचने तक गुरु इसमें आनन्द और शून्य का अनुभव करते हुए और समस्त देवताओं अग्नि में सिका हुआ मानते हुए, एक विशेष आनन्द को उद्घाटित करता है। अन्त में वह शून्य दिग्दर्शन की मुद्रा धारण कर लेता है। इस प्रकार "आनन्द–शून्य" का ज्ञान प्राप्त होता है।

यह साधना उच्चस्तर के गुरु, आचार्य तथा दैदीप्यमान शिष्य ही सम्पन्न कर सकते हैं। आधुनिक युग में तो केवल विश्वास को धारण करते हुए, गुरु और मुद्रा को एकाकार मानते हुए, केवल कल्पना कर लेते हैं कि गुरु ने जीभ पर अमृत स्थापित कर लिया है और इस अमृत को लाल और सफेद कणों अथवा तत्वों में परिणित कर दिया गया है। इसे केवल मानसी अथवा ध्यान सेवा से मिलता–जुलता हुआ क्रिया कलाप कहा

जा सकता है।

कर्म–मुद्रा और ज्ञान–मुद्रा से संगम पूर्व जन्मों के कर्मों के कारण होता है। जब एक नारी पर लेटा जाता है तो उसे कर्म मुद्रा की पहिंचान होती है। परस्पर आलिंगन, अंगों को प्रगाढ़ करने का यहाँ अत्यधिक विचार नहीं होता। ऊपर लेटने की क्रिया में केवल कर्म–मुद्रा का ही चिन्तन करना है।

आज कल यह कर्म नहीं किया जाता। अब स्त्री–संग की आवश्यकता नहीं है। उसे सोचना भी नहीं है और महसूस भी नहीं करना है।

ज्ञान मुद्रा के बारे में कहा गया है कि ज्ञान केवल स्वयं समाधि है। जो मुद्रा फैलती हो और गतिशील बनती हो वही "ज्ञान मुद्रा" है। दक्षता के बारे में कहा गया है– 'गुरु यदि वास्तविक तन्त्र क्रिया अथवा केवल विश्वास, निष्ठायुक्त कल्पना द्वारा "अमृत" प्राप्त कर लेता है और नाड़ियों के स्थान पर पहुँच जाता है, तब वह रक्तिम और श्वेत कणों के तत्वों द्वारा वाणी की वायु नाड़ी को उद्वेलित करता है। फिर सेवा प्रणाली द्वारा चिन्तन करता हुआ संव्रती माया पर नियन्त्रण प्राप्त कर लेता है। यह संव्रती माया ही पूर्णता के अंग हैं। "पूर्णता के पग" षड़ंग योग से लिया गया है। प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, अनुस्मृति और समाधि यह षड़ंग योग की सीढ़िया हैं। फिर पात्र के द्वार को अनुस्यूत करते हुए वह देह के पद्म अथवा चक्र का बेधन करता है, फिर वह मार्ग में वायु प्रविष्टि कराता है और मध्यम नाड़ी अवधूती में घोल देता है। इनसे चार शून्यों का निर्माण होता है। इससे माया–देह की प्राप्ति होती है। यह सब केवल वायु और मन–मस्तिष्क से प्राप्त होता है। दूसरे शब्दों में "सम्भोग काया की वाणी की शुद्ध वायु वाली नाड़ी का शुभद–फल प्राप्त होता है।

पौराणिक कहते हैं कि गुप्त तत्वों का रसास्वादन करने के कारण ही इसे गुह्य दीक्षा कहते हैं।

आन्तरिक ज्ञान दीक्षा

साधारण तन्त्र मार्ग में गुरु, शिष्य और ज्ञान की अनुभूतियों का अनुभव करते हुए अपने चेतना–प्रवाह (समतान तन्त्र) को मन्त्रोचारण द्वारा प्रभावोत्पादक बनाया जाता है। इन सब क्रिया–कलापों को काम की चौंसठ कलाओं में पारंगत आचार्य ही कर सकते हैं। यद्यपि चौंसठ कलाओं और चौसठ काम कलाओं में भेद दर्शाया गया है। गुरु शिष्य को वह विद्या प्रदान करता है, जिससे शिष्य गुरु के साथ–साथ गुह्य दीक्षा के दौरान संगम या समागम विद्या को प्राप्त करता है। आचार्य प्रश्नों के यथोचित समाधान तथा व्याख्या उपस्थित करता है। इसके पश्चात् चार रसानुभूतियों (आनन्द) का रसास्वादन करता हुआ शिष्य दीक्षा प्राप्त करता है। उसे गमण्डल की प्राप्ति हो जाती है।

चार आनन्द निम्नलिखित हैं–

१. आनन्द, २. परमआनन्द, ३. विराम आनन्द, ४. सहजानन्द।

इसके दीक्षा में तीव्र लालसा, तीव्र ग्रहण शक्ति द्वारा सुख–शून्य को आनन्द के साथ प्राप्त किया जा सकता है। मुख्य बात चार सम्मिलित आनन्दों का शून्य से संगम है।

आज कल इस प्रकार के आचार्य, गुरु का मिलना कठिन है। अब तो गुरु ज्ञान–मुद्रा का निर्माण करते हुए शिष्य को आश्वस्त करता है और विद्या प्रदान करता है। इस विद्या के अन्य नाम हैं– कामदेव तथा पितृ–मातृ–सम्भोग–अवस्था। शिष्य कामदेव की कल्पना ही करता है। विश्वास, कल्पना और ध्यान में कामदेव को स्थिर रखते हुए सुख उत्पन्न किया जा सकता है। यदि पूर्णतया सुख उत्पन्न न किया जा सकता हो तो भी कम–से–कम शिष्य का इतना तो धैर्यपूर्वक विश्वास ग्रहण करना ही पड़ेगा कि मेरे मस्तिष्क में सुख–शून्य उत्पन्न हो गया है। इस सुख–शून्य से चार आनन्द की प्राप्त हो गई है। यदि ऐसी निष्ठा, कल्पना,

विश्वास अपने अन्दर जाग्रत नहीं कर सकता तो आज कल के शिष्यों को आन्तरिक ज्ञान–दीक्षा प्राप्त नहीं हो सकेगी।

४. **अक्षर अभिषेक-** इसमें गुरु शिष्य को युगनद्ध पद्धति की दीक्षा देता है। यह दीक्षा तब पूर्ण होती है, जब शिष्य में युगानन्द का पूर्ण ज्ञान जाग्रत हो जाए।

उत्पत्ति कर्म, निष्पन्न कर्म अथवा सम्पन्न कर्म का दीक्ष मार्ग से संबंध

चेतना प्रवाह के प्रगाढ़ होने पर सम्पन्न कर्म का चिन्तन करना होता है। यदि इसके अतिरिक्त दूसरी वस्तु का चिन्तन भी साथ–साथ करना पड़े तो निराशा ही हाथ लगेगी। चेतना प्रवाह की प्रगाढ़ता के लिए पहले उत्पति कर्म और इसका उचित पात्र बनने के लिए पहले कलश दीक्षा अवश्य प्रदान करनी पड़ेगी। इसके पश्चात् ही दूसरे कर्म का समापन होगा।

इनका क्रमशः सम्पादन होता है। पहले काया विवेक, वाग् विवेक, रसना लालन, अवधूति इत्यादि देह के अंग तथा नाड़ियों का प्रादुर्भाव करते हैं।

फिर क्रमशः –

(अ) चित विवेक

(आ) आलोक (प्रकाश)

(इ) आलोकाभास (प्रसार)

(ई) आलोकोपलब्धि

ये सभी प्रकाश चार शून्य के साथ प्रकट किये जाते हैं।

इसके पश्चात् ध्यान के पिण्ड ग्रह अनुभेद कर्म द्वारा मायिक, अशुद्ध देह को शुद्ध कर स्पष्ट आलोक में प्रविष्ट कराते हैं। तब पूर्ण तत्व का प्रकाश दिखाई देता है।

उपर्युक्त कर्म मीमांसाओं तथा सोपानों का दीक्षा के समय तथा व्यक्तिगत रूप में मण्डल प्रविष्टि के समय, समुचित पालन करना एक अनिवार्यता है। साथ ही साम्या और सम्बर भी उतने ही महत्वपूर्ण हैं। शिष्य को साथ ही १४ मूल पंक्तियों तथा अष्ट स्थूल पंक्तियों का निष्ठा पूर्वक ध्यान अपने मस्तिष्क में धारण करना पड़ता है। अश्वपति ने मूल पंक्ति संग्रह में १४ मूल पंक्तियों का वर्णन किया है–

१. आचार्य के प्रति असम्मान या धृष्टता।
२. ज्ञानादेशों का उल्लंघन (जैसे सुगत के तीन सम्बर का उल्लंघन)
३. वज्रान्तर (गुरु भाइयों) के प्रति क्रोध।
४. जीव मैत्री की उदासीनता, इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान के ज्ञानियों से मैत्री–विच्छेद।
५. बोधिचित्त का त्याग।
६. स्वयं के धर्म तथा अन्य मतावलम्बियों (प्रज्ञान परिमिता) के सिद्धान्तों के प्रति धृष्टता।
७. अदीक्षित व्यक्ति के लिए गुह्य साधना को व्यक्त करना।
८. पंक्ति बुद्धों के प्रति उदासीनता और धृष्टता।
६. विशुद्ध धर्म के प्रति अपने पृथक विचार तथा आलोचना।
१०. दुष्ट संग (परन्तु दया उनके प्रति भी रखनी होगी)।
११. असार संसार के प्रति काल्पनिक लगाव।
१२. श्रद्धा स्तब (बौद्ध अनुयाइयों) के प्रति चित्तदूषण।
१३. ग्रहण की गई आस्था का उल्लंघन।
१४. प्रज्ञान स्वंभाव (महासुख) धारण करने वाली नारियों की अवहेलना।

अष्ट शूलपंक्ति (अवरोध) तिब्बती विद्धानों के अनुसार निम्नलिखित हैं–

१. अन्तर्ज्ञान के दंभ से वस्तुओं को प्राप्त करना (जादूगरी)।

२. स्वयं ही अमृत पाने का शक्ति प्रदर्शन।

३. अयोग्य पात्र क़े प्रति गोपनीयता न रखना।

४. सभा में विवाद करना।

५. आस्थावान् श्रद्धालु अनुयायियों को धर्म के विपरीत ज्ञान देना।

६. श्रावकों में सात दिन तक ठहरना।

७. योगी होने का दम्भ करना।

८. नास्तिक को सिद्धान्त पढ़ाना।

यदि कलश दीक्षा प्राप्त नहीं की जाती तो आचार्य को तीन उच्च ऊध्र्वगामी दीक्षा देने का अधिकार भी नहीं है। इसी प्रकार मण्डल प्रविष्टि तथा देवताओं के साक्षात्कार के बिना भी कोई दीक्षा प्राप्त नहीं कर सकता, क्योंकि ऐसे अवसर पर ही दीक्षा अनिर्णायक हो जाती है। शास्त्र कहता है– "यदि आचार्य के पास मन्त्र केवल चेतना प्रवाह में हो और उसे दीक्षा देनी पड़े तो एक अतुल अवरोधक खड़ा हो जाता है, जो सम्बर (शपथ) को दूर फेंक देता है। इतने पर भी आचार्य न माने और दीक्षा दे तो भले ही मन्त्र–मार्ग का अनुसरण करे, वह नरक में पड़ेगा"।

कुछ विद्वानों का मत है कि "कालचक्र" की विचारधारा के अनुसार केवल उच्चतम दीक्षा दी जा सकती है और सात निम्न दीक्षाओं की कोई अनिवार्यता नहीं है– इसे पर्वत तुल्य, लाँघ सकने वाला अवरोधक माना जायेगा। यह अपने प्रति दूसरों के प्रति तथा बुद्ध की शिक्षाओं के प्रति घोर पाप (अवमानना) होगी।

निश्चय की काल चक्र में रंगों के चूर्ण वाले मण्डल पर जोर दिया गया है। "आचार्य रंगों के चूर्ण वाले मण्डल की दीक्षा देगा, परन्तु चित्रित वस्त्रों के मण्डल की नहीं" भाष्य में केवल इतना ही वर्णन है।

इस प्रकार दीक्षा की पूर्ण विशेषताओं को हृदयंगंम कर शिष्य को साम्या और सम्बर की रक्षा करनी होती है। छोटे, अल्प, लघु उल्लंघन तो हो

सकते हैं, फिर भी उन्हें स्वीकृत करते हुए, पश्चाताप के द्वारा निवृत्त किया जा सकता है। यदि बड़े, मुख्य, उल्लंघनीय अपराध, अवरोधक सामने आयें तो स्वयं मण्डल प्रवेश क्रिया द्वारा स्वयं का शुद्धिकरण करना अनिवार्य है। क्रमानुसार क्रिया करने पर अवरोधक परेशान नहीं करते। विनय सम्बर की अपेक्षा मन्त्र–मार्ग का अवरोध या मन्त्रोउल्लंघन अधिक कष्टकारी है। यदि इन उल्लंघनों का ध्यान रखा गया तो आगे होने वाले जन्मों में एक योग्य गुरु की प्राप्ति होगी। वह धर्मात्मा बन कर प्रत्यय सम्भूतपद का पथगामी बन कर सातं से लेकर सोलह (१६) जन्मों तक बुद्धत्व का प्रसार करेगा।

उत्पत्ति कर्म और निष्पादित कर्म

जो व्यक्ति साम्य और सम्बरों के प्रति सजग है, समर्पित है, वह उत्पत्ति कर्म और निष्पादित कर्म को भी ध्यान में रखता है। उत्पत्ति कर्म द्वारा वह विपाक–कर्म को पूर्ण करता है और निष्पादित कर्म द्वारा विमुक्ति–मार्ग को पूर्ण करता है, क्योंकि महायान सम्प्रदाय का समग्र, ज्ञान, विपाक–मार्ग और विमुक्ति मार्ग से ही संबंधित है।

यदि उत्पत्ति कर्म द्वारा चेतना–प्रवाह में प्रगाढ़ता आती है तो निष्पादित कर्म द्वारा उस चेतन–प्रवाह की प्रगाढ़ता को मुक्ति मिलती है।

कुछ लोगों का विचार है कि उत्पत्ति कर्म से जन्म शुद्धि होती है और निष्पादित कर्म से मृत्यु शुद्धि हो जाती है। इस प्रकार यह दोनों ही कर्म–शुद्धियों के विभिन्न क्षेत्र हैं। कुछ विद्वानों का विचार है कि उत्पत्ति कर्म से चार प्रकार की जन्म–शुद्धि होती है। प्रामाणिक बौद्ध सूची इस प्रकार है–

१. जरायुजा

२. अण्डजा

३. सम्वेद (पसीना) या (गर्मी और नमी)

१०

चक्र और काय

चार चक्र

बौद्धधर्म ने शरीर में चार चक्रों की स्थिति मानी है– १. निर्माण चक्र, २. सम्भोग चक्र, ३. धर्मचक्र तथा ४. उष्णीष चक्र। इन चक्रों का निर्माणकाय, सम्भोगकाय, धर्मकाय तथा वज्रकाय अथवा सहजकाय से सम्बन्ध है। ''हेरूक–तन्त्र'' के अनुसार महासुख कमल में चार आर्यसत्यों के प्रतीक चारदल हैं। सम्भोग चक्र में १६ दल हैं। धर्मचक्र में ८ दल हैं तथा निर्माण चक्र में ६४ दल हैं। ऊष्णीष कमल से निर्माण कमल तक के चार कमलों में क्रमशः चार, सोलह, बत्तीस और चौसठ दल हैं। इन चक्रों अथवा कमलों के बीच में भी कुछ अन्य कमलों की कल्पना की गई है। चार चक्रों का सम्बन्ध चार मुद्राओं से जोड़ा गया है, वह हैं क्रमशः– १. कर्म मुद्रा, २. धर्म मुद्रा, ३. महामुद्रा तथा ४. समय मुद्रा। ये मुद्रायें चार स्कन्धों की अधिष्ठात्री देवियों–लोचना (पृथ्वी), मामकी (जल), पाण्डरा (अग्नि), और तारा (वायु) इन चार स्कन्धों की अधिष्ठात्री देवियों से सम्बन्धित करदी गई हैं। इनके प्रतीकात्मक मान्त्रिकवर्ण–ए, व, म तथा य हैं। चक्रों में ये चारों देवियाँ करूणा, मैत्री और एकाग्रता, मुदिता तथा उपेक्षा की प्रतीक के रूप में रहती हैं। इनके साथ चार क्षणों–विचित्र, विपाक, विमर्द तथा विलक्षण एवं चार आनन्दों–आनन्द, परमानन्द, विरमानन्द तथा सहजानन्द की योजना की गई है। साधना के अनुकूल चार प्रकार के योगों का विधान है– विशुद्धि योग, धर्मयोग, मन्त्रयोग तथा संस्थानयोग। मुक्ति के लिए साधक को इन चार योगों की चार अवस्थाओं को पार करना चाहिये।

बौद्ध–तन्त्रों में भी नाड़ियों की संख्या ७२००० बताई गई हैं इनमें भी ३२ मुख्य हैं और उनमें भी तीन प्रमुख हैं – ललना, रसना और अवधूति।

हिन्दू तन्त्रों में इन्हीं को इडा, पिंगला और सुषुम्ना कहा गया है।

प्राण और अप्राण योग की साधना मन्त्रयोग की सहायता से की जाती है। उनमें पूरक, कुम्भक और रेचक नाम की तीन क्रियाएँ होती हैं। इन तीन क्रियाओं में क्रमशः— ओं, अँ, हुँ इन तीन वर्णों के मन्त्र का जप होता है। हेवज्र तन्त्र में कुछ भिन्न पाँच कुलों का वर्णन पाया जाता है— वज्र, पद्म, कर्म, तथागत तथा रत्न इनकी पाँच मुद्रायें हैं— डोम्बी, नटी, रजकी, ब्राह्मणी और चाण्डालिनी। इनका संबंध पाँच भूत तत्वों तथा पाँच स्कंधों से है।

तीनकाय

बौद्ध तन्त्र के तीन कायों में धर्मकाय, सम्भोगकाय तथा निर्माणकाय की गणना की जाती है। वज्रयानियों तथा सहजयानियों ने धर्मकाय से भिन्न एक सहजकाय की कल्पना भी की है, जिसे महासुखकाय भी कहा जाता है। सहजयान में सहजतत्व को वज्र के स्थान पर प्रतिष्ठित किया गया है।

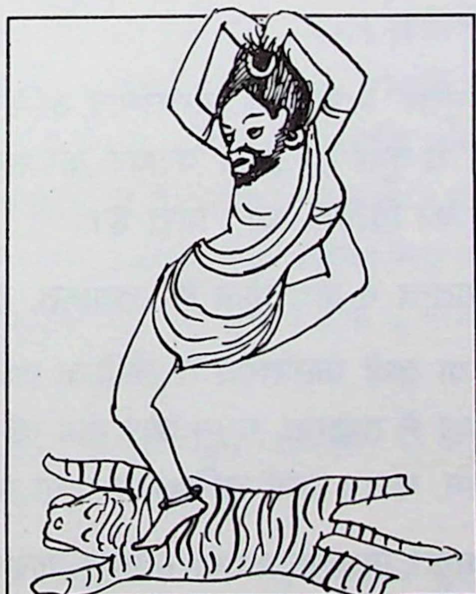
यह शरीर संसार से विषम भिन्न नहीं है— इस सिद्धान्त के आधार पर तान्त्रिक बौद्धों ने कमलों, चक्रों तथा नाड़ियों की कल्पना की है। शरीर का मेरुदण्ड वाह्यविश्व में स्थित मेरुपर्वत है। तान्त्रिक बौद्धों ने शरीरस्थ निर्माणकाय चक्र, सम्भोगकाय चक्र, धर्मकाय चक्र तथा उष्णीष कमलचक्र अथवा सहस्त्रार चक्र नाम के चार चक्रों की कल्पना उक्त वैश्वकायों के अनुरूप की है। हेवज्रतन्त्र के अनुसार महासुख कमल में चार आर्य सत्यों के प्रतीक चार दल हैं। श्री सम्पुट में चार चक्रों का सम्बन्ध—कर्ममुद्रा, धर्ममुद्रा, महामुद्रा तथा समयमुद्रा— इन चार मुद्राओं के साथ जोड़ा गया है। इन चार स्कन्धों की अधिष्ठात्री देवी लोचना (पृथ्वी), मामकी (जल), पाण्डरा (अग्नि) तथा तारा (वायु) से सम्बद्ध करदी गई है। हे कार से महाकरूणा का तथा 'वज्र' से प्रज्ञा का द्योतन होता है।

बौद्धचित्त की भाँति ही हेवज्र अथवा वज्रधर भी सम्भोगरूप में 'ऐं' तथा 'व' शब्द की व्याख्या भी यौन योगिक आधार पर की गई है। जिसके अनुसार एकार भग है एवं वकार कुलिश अथवा वज्र है। बौद्धिचित्त का वहन करने वाली २५ नाड़ियाँ महासुख स्थान की ओर प्रवाहित होती हैं। हेवज्रतन्त्र के अनुसार – राग से ही लोक बन्धन में पड़ता है और राग से ही मुक्त होता है।

ब्राह्मणतन्त्र में जिसे शिव और शक्ति का युग्म कहा गया है, उसी तत्व को 'एँ, व' यह अक्षर प्रकट करता है। इस बीच का याँन्त्रिक–स्वरूप त्रिकोण आकृति वाला है। बिन्दु दोनों के संयोग का सूचक है। यह बीज प्रेरक ऐं रखने के लिए पिटक अर्थात् सन्दूक के समान है, 'म' जिसकी प्राप्ति ही महासुख की उपलब्धि है।

एकारश्च श्रवेन्माता, वकारस्तु रताधिपः।
बिंदुश्चानाहतः ज्ञानं तज्जाता न्यक्षराणि च।।

"ए" एकार माता रूप है वह चन्द्रमा तथा प्रज्ञा का द्योतक है। "ब" कार "पिता" है, जो सूर्य तथा उपाय का सूचक है। "बिन्दु" अनाहत ज्ञान का प्रतीक है, जो दोनों का सम्मिश्रण है।



११

मन्त्रयान के विभाग

चार विभाग

मन्त्रयान के चार विभाग हैं— १. क्रियातंत्र के सिद्धान्त, २. कार्यतंत्र के सिद्धान्त, ३. योगतंत्र के सिद्धान्त, ४. अनुत्तर योगतंत्र के सिद्धान्त।

विभिन्न कुलों के अनुसार विभिन्न प्रकार के तंत्र हैं। कुछ ऐसे हैं जो साधना और विधि की ओर इंगित करते हैं तथा कुछ सर्वसाधारण के लिए हैं। क्रिया तथा कार्यतंत्रों में लोकोत्तर परिवारों का वर्णन है— मुख्यतः तीन परिवार हैं— १. तथागत, २. पद्म तथा ३. वज्र।

विभिन्न तन्त्रों के कुल

क्रियातन्त्र की विभिन्न धाराओं के विभिन्न कुल हैं। इनमें से कुछ तन्त्र साधना का उपदेश करते हैं, कुछ विधि का और कुछ सभी घरानों के लिए एक से हैं।

"अनुत्तर" में वैरोचना, रत्नसम्भव, अमिताभ, अमोध सिद्धि, अक्षोभ तथा वज्रधर ये कुल हैं। इनमें 'वज्रधर' को सबसे मुख्य माना जाता है और अक्षोभ को द्वितीय स्थान प्राप्त है।

योगतन्त्र में पाँच कुल हैं— तथागत, रत्न, पद्म, वज्र तथा तन्त्र।

क्रिया तथा कार्यतन्त्रों में लौकिक तथा लोकोत्तर घराने (कुल) हैं। लोकोत्तर में तथागत, पद्म और वज्र की गणना होती है। इन्हें क्रमशः उच्चत्तम, मध्यम तथा कनिष्ठतर माना गया है।

तथागत कुल के स्वामी भागवत् शाक्यमुनि हैं तथा गुरु मंजुश्री हैं।

यह कुल साधना के द्वारा शाक्य मुनि को मण्डल–नायक बनाने की विधि मूर्ति बनाने की कला तथा रज–मण्डल बनाने की क्रियाओं एवं तन्त्र का निर्देश करता है। कुछ लोंगों का कहना है कि यह क्रियातंत्र नही, अपितु कार्यतन्त्र है। इस कुल के स्वामी भागवत् ने "अनन्त मुख–साधका नमः धरणी"'– का ज्ञान दिया। इसकी पुस्तक का नाम भी यही है। कहा जाता है कि इसमें दो मण्डलों के निर्वाण की शिक्षा दी गई है, जिसके द्वारा शाक्य–मुनि मण्डल के स्वामी बने।

"बौद्धिमण्डलाक्षालंकार" तंत्र की एक महत्वपूर्ण पुस्तक है। इसमें बताया गया है कि तीन प्रकार के अवशेष स्तूप में डाले जाते हैं। पहला–तथागत की धर्मकाया, दूसरा–मूतिजा तथा तीसरा–वस्त्र।

धर्मकाया का अवशेष धरणी है (जिस स्तूप में बुद्ध की धर्मकाया हो, उसे 'धरणी' कहा जाता है) मूतिजा सरसों के दाने से बड़ी नहीं होती तथा वस्त्रों के अवशेष बिम्ब तथा प्रतिबिम्ब के रूप में होते हैं। इन तीनों को क्रमशः उच्चतम, मध्यम तथा कनिष्ठ माना गया है।

"स्वरूपनमःधरणी"–तथागत कुल का तंत्र है। यह धरणी तथागत की सुन्दर काया है। कुछ लोगों के अनुसार स्वर्णप्रभाषसूत्र का संबंध उन मंत्रों से है, जो तथागत कुल से संबंधित हैं। इस कुल का गुरू "मंजुश्री मूलतंत्र" है। इस तंत्र में ३६ अध्याय हैं। इस कुल में मंजुश्री सिद्धि का वीरतंत्र भी है, जिसके ४ अध्याय हैं। इस तंत्र से जीवन की सुरक्षा ओलावृष्टि से बजाव तथा खमन करने की क्षमता प्राप्त होती है। उसके लिए महामयूरी का आश्रय लेना पड़ता है। महामयूरी में २५ देवता तथा ५ भगवानों का वर्णन है। इस घराने में पैशाचिक भयानक देवियाँ भी हैं।

सबसे बड़ा तंत्र अवलोकितेश्वर का है, जिसे 'पद्मजन' भी कहा जाता है। देवियों में तारा की प्रशंसा भी की गई है।

वज्रकुल–इसमें अक्षोभ की धरणी का वर्णन है, जो सब बुराइयों को

दूर करता है, इस कुल का गुरू 'वज्रपाणि' है। इसका तंत्र 'वज्रपाताल तंत्र' है।

क्रियातंत्र में घ्यानोत्तर तंत्र के अन्तर्गत वज्रोनिषा तंत्र में दस विषयों का वर्णन पाया जाता है, जो इस प्रकार है–

१. तंत्र के अभ्यास का स्थान

२. आत्मबोध

३. विद्याधारणी की यथार्थता

४. ईश्वर की यथार्थता

५. आग में रहकर तप करने का अभ्यास

६. ध्वनि में तप करने का अभ्यास

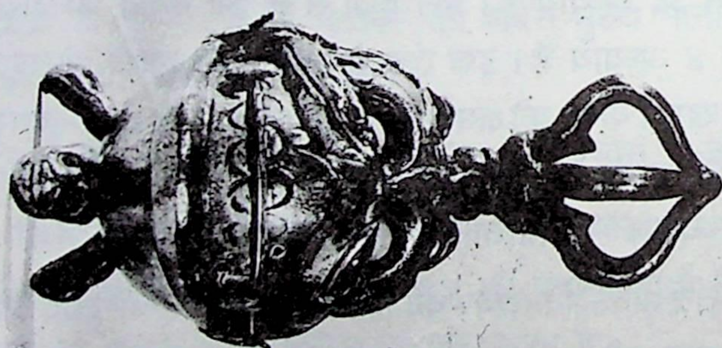
७. ध्वनि की सीमा लाँघकर तप करने का अभ्यास

८. विद्या–धारिणी के अभ्यास में रत होने की क्रिया

९. परिपक्व वस्तु को अर्पण करने की क्रिया

१०. दीक्षा क्रिया।

Horrific offering vessel. Tibet, 19th century. Brass, with turquoise h. 6 (15)



१२

क्रियातन्त्र के सिद्धान्त

क्रियातन्त्र की कार्य प्रणाली

आचार्य अभयंकर ने वज्रायली नमः मण्डल साधना में बताया है कि अभिषेक (दीक्षा) छः प्रकार से प्राप्त किया जाता है– १. माला, २. जल, ३. किरीट, ४. बिजली, ४. घण्टी तथा ५. नाम। इन वस्तुओं के प्राप्त होने पर ही कोई ज़ीव क्रिया और कर्मतंत्रों के मर्म को समझ सकता है तथा उसकी व्याख्या कर सकता है। उसे तीन वस्तुएँ धारण करनी पड़ती हैं– १. वज्रसमय, २.घण्टा समय तथा ३. मुद्रा समय– इनका नाम 'शपथ' है।

योगतंत्र में महामुद्रा का प्रचलन अधिक है। महामुद्रा किसी देवता की काया होती है।

माला, जल तथा किरीट लेने की दीक्षा के बाद भविष्य–कथन को उत्साहित करने और आज्ञा देने के अधिकारों का प्रयोग किया जाता है। योगतंत्र के मूल सिद्धान्त के अनुसार शपथ लेने वाला ही साधक मण्डल में प्रवेश कर सकता है।

'सुसिद्धि ग्रंथ' में कहा गया है कि क्रियातंत्र के तीन घरानों में से यदि किसी ने तथागत कुल से दीक्षा लेली है और उसमें पद्म तथा वज्रकुल से दीक्षा ग्रहण नहीं की है तो भी वह तीन कुल के देवताओं का ध्यान कर सकता है वह धारणियों का जाप कर सकता है और तंत्रविद्या के ग्रथों का मनन कर सकता है, परन्तु इसके लिए देवताओं से आज्ञा का वचन लेना आवश्यक है।

क्रिया–तन्त्र की कार्य प्रणाली में ध्यान तथा जप के द्वारा सिद्धि प्राप्त

की जाती है तथा सिद्धि प्राप्त करने से पूर्व देवता की सेवा आवश्यक है। देवताओं की छः श्रेणियाँ हैं।

१. **प्रथम देवता**– तत्त्व देवता, इसकी प्राप्ति आत्मतत्व एवं देवता तत्त्व द्वारा होती है।

२. **दूसरा देवता**– शब्द देवता।

३. **तीसरा देवता**– अक्षर देवता।

४. **चौथा देवता**–रूप देवता।

५. **पांचवाँ देवता**– मुद्रा देवता।

६. **छठा देवता**– निमित्त देवता।

क्रियातंत्र में अनुराग–मार्ग का अनुसरण किया जाता है, जिसमें पुरुष तथा स्त्री देवता एक दूसरे को मुग्ध दृष्टि से देखते हैं। एक सामान्य साधक क्रियातंत्र में अपने सम्मुख देवता का ध्यान करके ही सिद्धि प्राप्त कर सकता है। उसे स्वयं को देवता मानने की आवश्यकता नहीं पड़ती। इस तंत्र में प्राणायाम का प्रयोग भी किया जाता है, परन्तु प्राणायाम को निम्न स्तर का तंत्र माना जाता है। देवता के ध्यान के लिए पहले आधारपति का ध्यान दिया जाता है इसमें भूमितल का ध्यान करते हुए– **'ॐ कलाविरोहं स्वाहा'** मंत्र का उच्चारण किया जाता है तथा यह कल्पना की जाती है कि भूमि रत्न तथा स्वर्णमयी है।

इस तंत्र द्वारा आशीषवाचन किया जाता है **''ॐ विमलधरा हुं'** इस मंत्र के द्वारा पुनः आशिर्वाचन करके यह कल्पना की जाती है कि क्षीर सागर है, जिसमें कोई हिंसक पशु नहीं है। वह लाल तथा नीले रंग वाले कमल पुष्पों से भरा हुआ है, जिनके ऊपर रत्नमय पक्षी उड़ रहे हैं। उस समुद्र के बीच में चार कोणों वाला सुमेरुपर्वत है, जिसमें स्वर्ण, चांदी तथा इन्द्रनीलमणि की सीढ़ियाँ बनी हुई हैं। उस पर कल्प वृक्ष फूले हुए हैं तथा सहस्त्रों भाँति की विजय पताकायें पहरा रही हैं।

इसके बाद यह कल्पना की जाती है कि कई योजन ऊपर एक कमल नाल है, जिसका मूल सुमेरू पर्वत के मध्य से है, उसमें नाना प्रकार के रत्न जड़े हुए हैं, उसकी पत्तियाँ स्वर्ण तथा अम्बर निर्मित हैं। पंखुड़ियों के मकरन्द वाले घेरे पर रजत–रेखाएं हैं। ऐसे असंख्य कमलों का जाल बिछा हुआ है।

इसके पश्चात् "नमः सर्वा तथागता नमः"– मंत्र का सौ बार उच्चारण करके **"सर्वथा उदगते स्फुराण हिमगा गणखम्म स्वाहा"**–इस मंत्र का उच्चारण करना चाहिए। इसके बाद एक एकान्त तथा ऐसे कूट गढ़ की कल्पना करनी चाहिये जिसमें कई आसन हैं। तदुपरान्त अनेक प्रकार के चमकीले स्पूतों की कल्पना करके अर्घ द्वारा पुनः आमंत्रित करना चाहिये।

क्रिया तथा उच्चत्तर सिद्धि के लिए जौ तथा दूध की आवश्यकता भी पड़ती है। सिद्धि को पुष्ट बनाने के लिए शीशम तथा खट्टे दूध की भी आवश्यकता होती है।

पैशाचिक क्रियाओं–अभिकारूका के लिए सामान्य मूत्र तथा मिलिट (ज्वार) अथवा रक्त का भी अर्क दिया जाता है। चावल, सुगन्ध, श्वेत–पुष्प, कुशाग्रास तथा शीशम को शुद्ध पानी में मिलाया जाता है। इस क्रिया का प्रयोग सभी साधक करते हैं।

अर्घ में सात बार तीन घरानों की विद्यारज की धारणियाँ पढ़ी जाती हैं। धारणी की समाप्ति पर "आहे इहीं" (आइये–आइये) कहकर अर्घ के पात्र को अपना मस्तक ऊपर उठाते हुए, तथागत परिवार को समर्पित किया जाता है। अन्य परिवारों के लिए केवल छाती तक आधा शरीर उठाने का नियम है। इसके बाद यह कल्पना की जाती है कि ज्ञानों का आगमन हो गया है। उस समय पुरुष देवताओं के लिए "विद्याराजा" की धरणी का तथा स्त्री–देवताओं के लिए "विद्यारजनी" धरणी का प्रयोग

किया जाता है।

सुसिद्धि के अध्याय में यह लिखा गया है कि जब मूल–देवता का आगमन हो तो उस समय वह जिस मुद्रा में हो, साधक को भी वही मुद्रा बना लेनी चाहिये। कमलासन के द्वारा तथा **ॐ कमलाय स्वाहा**–धरणी के उच्चारण द्वारा जैसी भी परिस्थिति हो, अन्य देवताओं को आसन दें तथा उनसे आसन ग्रहण करने की प्रार्थना भी करें।

मुद्रा-दर्शन

इसके उपरान्त "शंकारेसम स्वाहा" का उच्चारण करते हुए वज्रमुद्रा का प्रदर्शन करें। छोटी उँगली को सीधे अँगूठे से दबाकर, शेष तीनों उँगलियों से वज्रमुद्रा का संकेत देना चाहिये। तदुपरान्त तीन कुलों की मुद्राओं को धारण करते हुये तीन हृदय "जिनाजिक"– का उच्चारण करना चाहिये। इसके बाद घरानों की महासामनी मुद्राओं की गाँठ बाँधनी चाहिये। इस प्रयोग से पिशाचों से रक्षा होती है। यदि इसके बाद भी राक्षस तथा पिशाच पिण्ड न छोड़े, तो जैसा भी अवसर हो, उसके अनुसार किसी क्रोधी–देवता की धरणी का उच्चारण करते हुये, भूतों तथा पिशाचों को डराने हेतु श्वेत–सरसों के दानों को छिड़कना चाहिये।

पूजा स्थिति आदि में पहले भेट दी जाती है, परन्तु वह पिशाचों तथा भूतों को भगाने के बाद ही दी जाती हैं। दोनों छोटी अर्थात् कनिष्ठा एवं दोनों अंनामिका उँगलियों को आपस में फँसालें, मध्यमा उँगलियों को एक दूसरी के सामने रखते हुये दोनों तर्जनियों के तृतीय पर्वों को मिलाते हुये तथा दोनों अँगूठों के किनारों को जोड़ते हुये इस प्रकार कहें "जो भागवत् आनन्द को प्राप्त हुआ है, वह यहाँ आये और बैठे, वो मेरे अर्ध्य को प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करे तथा मेरे मस्तिष्क को और भी गहरा करदे। मैं तेरा हूँ" । देवता की धरणी का उच्चारण करने के पश्चात् अर्घ्य प्रस्तुत करते हुये "अर्घप्रतीक्षा स्वाहा"– अर्थात् मेरा अर्घ स्वीकार करें– इस मंत्र

का उच्चारण करें। इसके बाद जलपूर्ण पात्र में से फूल उठायें।

पात्र का पानी पाँव धोने के लिए होता है। पाँवों पर पानी डालते हुये– **'ॐ प्रवरम् सत्कर्म पादयम् प्रतीक्षा स्वाहा'**– इस मंत्र का उच्चारण करते हुये पांव धोने चाहिये। इसके बाद दर्पण में देवता की प्रतिच्छाया को देखें तथा उस प्रतिबिम्ब को ही वास्तविक स्नान करायें। इस प्रकार का स्नान करानें के लिए यदि कोई सहायक उपलब्ध न हो तो अपने दोनों हाथों के पृष्ठ भागों को धरातल का रूप दें, जिसमें अंगूठों के सिरे तथा तर्जनी उँगलियाँ एक दूसरे को स्पर्श करते रहें– इस विधि से भी स्नान की क्रिया पूर्ण हो जाती है। उस समय **'ॐ सर्व देवता अचिंतया आरत: स्वाहा'**– इस मंत्र का उच्चारण करना चाहिये।

इसके पश्चात् मानसिक रूप से भोजन तथा अलंकार समर्पित करने चाहिये। तथा मानसिक रूप से ही मधुर संगीत द्वारा देवता को रिझाना चाहिये। तदुपरान्त दाँये हाथ से शरणागत होने तथा उपहार देने की मुद्राओं को प्रदर्शित करना चाहिये। फिर बाँये हाथ से कलाई को पकड़ते हुये सुगन्ध मुद्रा धारण करके यह कहें– "ये पवित्र दैविक त्तवों से निर्मित है। यह पवित्र है तथा पवित्रता से इसका जन्म हुआ है। मैं इसे भक्तिपूर्वक आपको भेंट कर रहा हूँ। इससे प्रसन्न होकर आप मुझे प्रसन्नता प्रदान करें। इस अवसर पर "अ ह र अ ह र सर्व विद्याधारी पूर्जित स्वाहा" अर्थात् सब विद्याओं को धारण करने वाले आप इसे स्वीकार करें। इस विधि से सुगन्धियाँ अर्पित करके एक ही धरणी का उच्चारण करना चाहिये। जिसे तीन अन्य अवसरों पर उपयोग में लाया गया हो, परन्तु इत्र वाली धरणी में दीपक नहीं जलाया जाता।

इसके बाद पुष्प–मुद्रा धारण करें। दोनों हाथों की उँगलियों को एक–दूसरी में फँसाकर तर्जनी उँगलियों के ऊपरी पर्वों को एक ऐसे बिन्दु पर लाया जाय कि वह ब्रासलेट (पहुँची) का आकार ग्रहण करले। अँगूठे

एक दूसरे के पार्श्वों का स्पर्श करते रहें– इसी को पुष्प–मुद्रा कहते हैं। इसके पश्चात् इस प्रकार कहें– "ये पवित्र फूल दैवीय तत्वों से निर्मित तथा पवित्रता से उत्पन्न हैं। इन पवित्र पुष्पों को मैं समर्पित करता हूँ। आप इनसे प्रसन्न होकर मुझे प्रसन्नता प्रदान करें।"

इसके बाद गन्ध–सत्व की मुद्रा धारण करनी चाहिये। जो इस पंकार बनती है–कनिष्ठा तथा मध्यमा उँगलियों तथा दोनों हाथों के पिछले हिस्सों के नाखूनों को एक दूसरों के सामने लाकर दोनों तर्जनी उँगलियों को एक कोंण पर फैला दिया जाता है तथा दोंनो अँगूठे पार्श्व में एक दूसरे के सामने बने रहते हैं। इस "गन्धसत्व मुद्रा" को धारण करने के बाद इस प्रकार कहना चाहिये– "ये दैवीय सत्व इत्र तथा जंगल की वनस्पतियों से निर्मित हैं, मैं इन्हें आपको भक्तिपूर्वक निवेदित करता हूँ।"

इसके बाद देवताओं के लिए भोज्य–पदार्थों की मुद्रा धारण करके यह कहना चाहिये–"यह भोज्य पदार्थ सुन्दर औषधियों द्वारा निर्मित हैं, मैं इन्हें आपको समर्पित करता हूँ।" भोज्य–मुद्रा में हथेलियों को अंजलि का आकार दिया जाता है और उस समय तर्जनियाँ एक दूसरी की ओर खिंची रहती हैं।

इसके पश्चात् 'दीपक–मुद्रा' धारण करनी चाहिये। इसमें अँगूठा तथा मध्यमा उँगली को ऊपर की ओर उठाया जाता है औंर वे एक–दूसरे का स्पर्श करते रहते हैं। ऐसी स्थिति में हाथ मुक्के का रूप धारण किये रहता है। इस मुद्रा के द्वारा यह प्रार्थना करनी चाहिये– "मैं प्रार्थना करता हूँ कि आप इन दीपकों से प्रसन्न हों। अनिष्टकारी तत्वों को शुद्ध करें तथा विजयी हों। आप प्रकाशवान तथा अन्धकार को दूर करने वाले हैं। मैं भक्तिपूर्वक इन दीपकों को समर्पित करता हूँ।" इस अवसर पर "आलोक्य आलोक्य विद्याधारी पूर्जते स्वाहा"– इस मंत्र का उच्चारण करना चाहिये।

यदि अर्घ तथा भेंट आदि को व्यावहारिक रूप में देना सम्भव न हो तो इन्हें मानसिक–पूजा द्वारा भी समर्पित किया जा सकता है। यह भी आवश्यक है कि वास्तविक रूप में समर्पित करने से पूर्व इन सब क्रियाओं को मानसिक रूप से भी कर लेना चाहिये, क्योंकि मानसिक भेंट ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण होती है।

गुरूजनों की स्तुति

सुसिद्धि के अनुसार तीन रत्नों एवं तीन कुलों के गुरूजनों को नीचे लिखे अनुसार स्तुति द्वारा प्रसन्न किया जाना चाहिये।

१. "मैं करूणा के स्वामी तथागत का अभिवादन करता हूँ। हे सर्व शक्तिमान गुरु ! आप योग्यताओं तथा श्रेष्ठ गुणों के सागर हैं।

मैं धर्म को प्रणाम करता हूँ जो कि पवित्रता के कारण लोक से मुक्त करता है तथा दैवीय गुणों के कारण दुर्भाग्य से छुटकारा दिलाता है, जो कि एकाकी होने के कारण अन्तिम लक्ष्य है।

मैं धार्मिक संघ (धम्म संघ) को प्रणाम करता हूँ, जो कि मुक्ति के बाद मुक्ति का मार्ग बतलाता है और नैतिक संकेतों से परिपूर्ण है और जिसमें धार्मिक क्षेत्र के सभी गुण विद्यमान हैं।

२. " मैं मंजुश्री को प्रणाम करता हूँ, जिसमें कौमार्यावस्था के लक्षण हैं, जो आन्तरिक प्रकाश से दैदीप्यमान है और तीन संसारों के अंधकारों को दूर करती है। मैं उन्हें नमस्कार करता हूँ। वे सदैव कारूणिक हैं और उन्हें अवलोकित के नाम से पुकारा जाता है। सभी बुद्धों ने उनका स्तुति गान किया है तथा उनमें सभी दैवीय गुण विद्यमान हैं"।

३. "मै वज्रपाणि को प्रणाम करता हूँ। मैं रौद्र और देवीय विद्यारज को प्रणाम करता हूँ, जो दुराग्रही, हठी और कठोर हृदय को भी कोमल अर्थात् विनम्र बना देता है"।

जैसा अवसर हो और जैसा देवता हो, उसके अनुसार भी स्तुति–गान किया जाता है। स्तुति मंत्र को सौ बार उच्चारण करना चाहिये। स्तुति मंत्र इस प्रकार है–

"नमः सर्व बुद्धा बौद्धिसत्वानाम् सर्वत्र संघकुर्वीता अभिजना-राशिनी नामो ॐ स्तुते स्वाहा" अर्थात् मैं समस्त बुद्धों एवं बौद्धिसत्वों को प्रणाम करके कण–कण में व्याप्त सर्वोच्च गुणों की किरणों से कृतार्थ होता हूँ।

पापादेशनादिका

पापादेशनादिका अर्थात् पापों की स्वीकृति के लिए निम्नलिखित कर्तव्य ताये गये हैं।

१. "पापादेशना" –अपने अपराधों तथा पापों के लिए पश्चाताप करना।

२. "शरण गमन्"– बुद्ध की शरण में जाना।

३. "अनुमोदन"।

४. "पुण्य ज्ञान"– ये बुद्ध तथा बौद्धिसत्वों के पास है।

बुद्ध की शिक्षाऐं

इन्हें बुद्धों तथा बौद्धिसत्वों द्वारा निर्देशित किया गया है।

बुद्ध की शिक्षाओं तथा वचनों पर विश्वास तभी होगा, जब साधक बुद्ध के विधिचक्र को मानता हुआ निर्वाण में विश्वास रखेगा।

'प्रणिधान'–इसका अर्थ है लोगों के दुखों को दूर करना अर्थात् उनकी सेवा करना।

चार अनन्त स्थितियों के विषय में विचार करने को "चतुराप्रमाणाभवनदह" और "चित्तोपादह" कहते हैं। पापों को स्वीकार करने से तथा चार स्थितियों को पार करने से साधक पवित्र होता है।

जप तथा उसके अंग

जप दो प्रकार के होते हैं– पहला स्वयंप्रकाश तथा दूसरा आत्मज्ञानी अर्थात् देवता द्वारा आत्मज्ञान कराने वाला। सही जप के लिए चार विभागों वाली जप–प्रणाली को पूरा करना चाहिये।

ये प्रणालियाँ निम्नानुसार हैं–

"ध्यानोत्तर तंत्र" कहता है कि ध्वनि, तथा मन को मंत्र में मिला देना चाहिये।

१. **धरणी सदस्य**– धरणी अर्थात् मंत्र देवता का शरीर है, जिसके हृदय में मंत्र का चक्र विद्यमान रहता है। धरणी दो प्रकार की होती है– १. स्वनिर्मित– इसमें स्वयं को ईश्वर के रूप में परिवर्तित किया जाता है तथा २. परनिर्मित– इसमें देवता की कल्पना अपने सामने की जाती है। जप–वाचन की ये दो विधियाँ हैं।

२.. **चित्तानिम्न**– इसमें आलम्बन का आश्रय लिया जाता है अर्थात् चित्त में आलम्बन किया जाता है। उसका आकार हृदय के चन्द्र–मण्डल में होता है तथा वह चन्द्र–मण्डल सम्मुख रहने वाले देवता के हृदय में रहता है।

३. **स्वरनिम्न**– इसका ध्यान मंत्र के अक्षरों में, जिन्हें उच्चारित किया जाता है, करते हैं और यह भी चन्द्र–मण्डल में रहता है।

४. **आकाशमाला**– यह तथागत परिवार में बोधि–वृक्ष के बीजों से, पद्म–परिवार में कमल की पंखुड़ियों से तथा वज्र–परिवार में रूद्राक्ष से निर्मित होती है। यदि आकाशमाला के निर्माण के लिए ये वस्तुएँ उपलब्ध न हों तो अन्य सामग्रियों से भी काम चल सकता है। इसे सिद्ध करने के लिए १००८, १०८, ५४ अथवा २१ बार पाठ किया जाता है।

एक अक्षर अथवा अक्षर–समूह को ध्वनि में डूबकर जप करने के दो तरीके हैं–

१. पहले तरीके में अक्षर–समूह पर चित्त स्थिर करने के लिए अक्षर अथवा अक्षर–समूह के सामने उपस्थित देवता के हृदय में आरूढ़ रहने की स्थिति की कल्पना करके जप किया जाता है। इन अक्षरों को अपने हृदय के भीतर आरूढ़ कर जप करते हैं। इस पहली प्रणाली में प्राणायाम का आश्रय भी लिया जाता है।

२. दूसरे तरीके में मंत्रों की माला स्वयं से कुछ दूर तथा ऊँचे स्थान पर रखी जाती है। वह देवता के हृदय में स्थित चन्द्रमा के ऊपर रहती है। जपकर्ता श्वांस लेते हुये चन्द्रमा तथा धरणी (मंत्र) की माला को अपने भीतर आत्मसात करता है और जप की स्थिति में इसी का ध्यान करता है और तब तक ध्यान करता है, जब तक कि वह श्वांस को बाहर न निकाले। जब वह वायु को भीतर खींचता है, उस समय यह कल्पना करता है कि चन्द्रमा धरणी की माला के साथ उसके समक्ष उपस्थित देवता के हृदय में स्थित हो गया है। इसी प्रकार वह उस माला तथा धरणी को श्वांस के द्वारा अपने हृदय में धारण करता है।

अक्षर अथवा अक्षर समूह की ध्वनि का चिन्तन करते हुये जप-

इस विधि में जप करने वाले को मंत्र के अक्षरों के आकार का चिन्तन नहीं करना पड़ता, न चन्द्र–मण्डल का ध्यान किया जाता है और न देवता के शरीर का ही। इसमें केवल मंत्र की लय की ध्वनि का ध्यान करते हैं। इसमें मंत्र किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा नहीं जपा जाता और साधक स्वयं भी उसे नहीं सुनता, परन्तु यह माना जाता है कि स्वयं जप करते समय केवल धरणी अर्थात् मंत्र की ध्वनि की लय का ही चिन्तन होता है जप के समय तीन वस्तुओं का ध्यान किया जाता है– १.देवता,२.चन्द्रमा

भक्षणं होमः प्रज्ञासेवनं चं योगः। सर्व कायकर्म तपः डमरूकस्वनि–खट्वांगधारणे, अपि मन्त्रध्याने वज्रनृत्यगीते, अपि, मन्त्रध्याने तथा यद एंव करोति तद् एवास्य समयः। यद् एव न करोति स एवास्य संवरः।।

x x x x x x

स्वसंवेदेत्यादि– नान्येन कथयते प्रत्यात्मवेद्यं वाक्पथ इति, वाचः पंथा प्रतिपन्ति र्वाक्पथस्यातीतगोचरः तद्विषयातिक्रान्त इत्यर्थः।

x x x x x x

समस्त वेदसिद्धान्तैः– वेदाः ऋग्यजुः। सामाथर्वलक्षणाः सिद्धान्ताः तीर्थिकप्रणिताः पुराणादयः। श्रावकपिटकसूत्रान्तादयश्च सिद्धिः पुनर्भवस्यान्त एभिरिति कृत्वा कर्मप्रसराः क्रियातन्त्रादयः एभिरूक्तलक्षणा सिद्धिर्न स्यात्।

विशुद्धि– विशुद्धयन्त्यनयेति विशुद्धिः यथा सर्वभावः निर्दोषा भवन्ति सा विशुद्धि। .... सर्वेषां भावानां व्यापिनी विशुद्धिः।

x x x x x x

ऊष्मा– समाधिमन्त्रजः प्रभावः।

x x x x x x

मन्त्रोद्धारमिति– देव्याः प्रश्नगाथा भगवान् आहेति संगीतिकारस्य वचनं श्रणु देवीत्यादि भगवतो वचनम्। वैरोचनः प्रणवः उष्माणां चतुर्थकम्। ह–कारः। पुक्कसी ऊकारः। शूंन्यमनुस्वार स्वाहान्तमिति अन्ते स्वाहाकारः, वर्णाधिपि ओं–कारः खेचरी अं अं–कारः, प्रथमस्य द्वितीयं ख–कारः, द्वितीयस्य तृतीय ज–कारः, वारीति इ–कारः, वर्णेश्वर ओं–कारः। पंचमस्य तृतीयं ब–कारः, डाकिनी उ–कारः, वर्णज्येष्ठ ओं–कारः। प्रथमस्य प्रथमं क–कारः। वज्रडाकिनी ह्रस्व उ–कारः, अन्तस्थानं द्वितीयं रेफः। तस्यैव तृतीयं ल–कारः, चौरी ए–कारः, चतुर्थस्य तृतीयं द–कारः। अन्तस्थानां चतुर्थं व–कारः, ऊष्माणां चतुर्थं ह–कारः, पुक्कसी ष्टस्वरः। पंचमस्य द्वितीयकं फ–कारः, पंचमस्य चतुर्थं भ–कारः। अन्तस्थानां प्रथमो य–कारः। अभ्यन्तर गौरी इ–कार, तृतीयस्य प्रथमं ट–पंचमस्य तृतीयं बः द्वितीयस्य

तृतीयं जः। वाह्नि रेफः। चतुर्थस्य प्रथमं तः हुताशनो रेफः, वेताली ऐं, अन्तस्थानं तृतीयं ल, प्रथमस्य प्रथमं क, अन्तस्थानां प्रथमं य, वज्रा आ, चौरी ए, पंचमस्य प्रथमं प, नैरात्मा अ, प्रथमस्य प्रथमं क, द्वितीयस्य प्रथमं च, तृतीयस्य प्रथमं ट, चतुर्थस्य प्रथमं त, पंचमस्य प्रथमं प, अन्तस्थानं प्रथमं य, ऊष्माणां श, अन्तस्थानां द्वितीयं र, वज्रा आ।

x x x x x x

शून्यता— षोड़शभुजसां तत्वं षोडशशून्यता, तदयथा अध्यात्मशून्यता बहिर्धाशून्यता, अध्यात्मबहिर्धाशून्यता, महाशून्यता, शून्यता—शून्यता परमार्थ शून्यता, संस्कृतशून्यता असंस्कृतशून्यता, अत्यन्तशून्यता, अनवराग्रशून्यता अनवकारशून्यता, स्वलक्षणशून्यता, प्रकृतिशून्यता, सर्वधर्म शून्यता, अभाव शून्यता, अभावस्वभाव शून्यता, एता एवं भुजाः कृता इत्यर्थः।

x x x x x x

भगिनी, रजकी, दुहिता आदिशब्दों की आध्यात्मिक व्याख्या

भगो स्यास्तीति बुद्धस्य भगवान् इति कथ्यते।
भगानि षड्विधान्या हुरेश्वयोदिगुणाखिलाः।।

अथवा क्लेशा दिमाराणां भञ्जनाद् भगवान् इति।
जननी भण्यते प्रज्ञा जनयंति यस्माज्जगत्।।

भगिनीति तथा प्रज्ञा विभागं दर्शयेद् यँथा।
रजकीति दुहिता च नर्तकी च प्रकथ्यंते।।

हज्जनात् सर्व्वसत्त्वानां रजकीति तथा स्मृता।
गुणस्य दुहनात् प्रज्ञा दुहिता च निगद्यते।।

नर्तकी भण्यते प्रज्ञा चंचलत्वान्महाकृपा।
अस्पर्शा भगवती यस्मात् तस्माद् डोम्बी प्रकथ्यते।।

जप्नं जप आख्यातं आलिकाल्योः प्रजल्पनात्।
मण्डलं पादलेखः स्यात् मलनाद् मण्डलमुच्यते।।

करस्फोटो भवेत्मुद्रा अंगुल्यामोटनं तथा।
तद् ध्येयं चिन्तितं यच्च ध्येयं यस्मात् विचिन्तितम्।।
पितरिं प्राप्तयत सोख्यं तत् सौख्यं भुज्यते स्वयम्।
मरणं येन सुखेने च तत् सुखं ध्यानमुच्यते।।

टीका-

बुद्ध को "भगवान" इसलिए कहा जाता है कि इनके 'भग" है। ऐश्वर्य आदि समस्त छः गुणों को भग कहते हैं। और इसलिये भी भगवान कहा जाता है कि वह क्लेशादि समस्त मारों का भंजन करते हैं। क्योंकि प्रज्ञा समस्त जगत की जननी है, इसलिए वह जननी कही जाती है। और विभाग को दिखाने के कारण उस प्रज्ञा को "भगिनी" भी कहा जाता है, उसे रजकी दुहिता और नर्तकी भी कहा जाता है। समस्त सत्वों (द्रव्यों) को रंजन करने के कारण उसे "रजकी" कहा गया है। गुणों का दोहन करने से उसे "दुहिता" भी कहते हैं। यह प्रज्ञा महाकृपा व्रती और चंचल होने से "नर्तकी" कही जाती है। ये भगवती स्पर्श के योग्य न होने के कारण से "डोम्बी" कही जाती है। जलपना को "जय" कहा गया है और प्रजल्पन के कारण वे "अलिकाली" हैं। पाद लेख (चौथाई) को "मण्डल" कहा जाता है। मलने के कारण यह "मण्डल" कहा जाता है। करस्फोट "मुद्रा' होती है। अंगुली के मोटने को भी "मुद्रा" कहते हैं। ध्येय को चिन्तत करने के लिए कहा गया है, इसलिये ध्येय का चिन्तन करना चाहिए। पिता से जो सुख प्राप्त होता है, वह सुख स्वयं भोगा जाता है। जिस सुख से मरण होता है, उसे ध्यान कहते हैं।

****

२०

अष्टदेवियों का स्वरूप तथा उनकी भावना विधि

प्रथमं भावयेन्मृतकं धर्माधात्वात्मकं विदुः।
योगी तस्योपरि स्थित्वा हेरूकत्वं विभावयेत्।।

व्योम्नि भट्टारकं दृष्टवा वज्रजन्यमहाकृपम्।
पूजयेद् अष्टदेवीभिः सर्वालंकारधारिभिः।।

चौरी मृगलाञ्छनधर्त्री गौरी मार्तण्ड भाजनम्।
वेताली वारिहस्ता च भैषज्यधर्त्री धस्मरी।।

पुक्कसी वज्रहस्ता च शवरी रसधरी तथा।
चण्डाली डमरूं वाद्य एताभिः पूजयेद् प्रभुः।।

डोम्ब्यालिंगतकन्धरो महारागानुरागितः।
चन्द्रालिकालिमार्तण्डं बीजं मध्यगतं भवेत्।।

स एव सत्व इत्याहुः परमानन्द स्वभावको।
विस्फुरन्ति स्वदेहाभाः गगनमण्डलच्छादकाः।।

संहायनियेघृद्धदये योनी द्वेषात्मको भवेत्।
नीलारूणाभवर्णेन रक्तबन्धूकनेत्रवान्।।

पिंगोर्ध्वकेशवर्तश्च पंचमुद्रेणालङ्कृतः।
चक्री कुण्डल कण्ठी च हस्ते रूचक मेखला।।

पंचबुद्धविशुद्धया च एता मुद्राः प्रकीर्तिताः।
क्रुद्धदृष्टिर्व्याघ्रचर्मा (स) द्विरष्टवृषाकृतिः।।

वामेवज्रकपालं च खट्वांग चापि वामतः।

दक्षिणे कृष्णवज्रं च हुंकारोच्चारणात्मकः।।
श्मशाने क्रीडते नाथोऽष्टयोगिनीभिः परिवृतः।
श्वसतीत्यनया युक्ता श्मंशानेत्यभिधीयते।।

नाथ का स्वरूप

चतुर्भुजश्चतुर्मारमिर्जित विशुद्धितः पूर्वोक्तवर्णरूपो हूंभवः प्रथमवामभुजे नरकपालं देवासुराणां रक्तेन पूरितं प्रथमदक्षिणभुजे वज्रं शेषद्विभुजाभ्यां प्रज्ञालिंगिताः वज्रवाराही प्रज्ञा भगवद्‌गिणी। षड्भुजस्त्रिमुखौ वामं रक्त दक्षिण चन्द्रारूणाभै प्रथमं नील़ं नग्नोः पूर्वोक्तवर्णरूपो भुजानां षट्पारमिताविशुद्धिः प्रथमवामभुजे त्रिशूलं प्रथम दक्षिणभुजे वज्रं वामद्वितीयभुजे घण्टा दक्षिणद्वितीयभुजे कर्त्रिः शेषद्विभुजाभ्यां वज्र श्रंखला समापन्नः यद्वत् भगवान् तद्वत् प्रज्ञा सव्यावसव्ये कृर्तकपालं त्रैधातुकात्मक मृतकाक्रान्तः।।

टीका

पहले मृतक की भावना करनी चाहिए, जिसमें धर्म धातु मिश्रित जाऩा जाता है। योगी उसके ऊपर स्थित होकर हेरूक की भावना करे। आकाश में वज्रजन्म महाकृपाशील भट्‌टारक को देख कर सम्पूर्ण अलंकार धारिणी अष्ट देवियों की पूजा करें। चौरी, मृगलाञ्छनधर्मी, गौरी, मार्तण्डभन्जन, वैताली, वारिहस्ता, भैषज्यधत्री, घस्मरी, पुक्कसी, वज्रहस्ता, शवरी, रसधरी, तथा चाण्डाली, इन सबका डमरू वाद्‌य से समर्थ साधक पूजन करें। डोम्बी के द्वारा जिनके मस्तक को आलिंगित किया गया है ऐसे महाराग के अनुरागी ब़ने, चन्द्रालिकालि मार्तण्ड वीजको मध्यगत रखें, उसे ही "सत्व" कहते हैं। यह परमानन्द स्वभाव वाला है। गगन मण्डल को आच्छादित करने वाली इस से अपने शरीर की आभाएँ फूटती हैं। ह्वदय में इन्हें धारण करके योगी द्वेषात्मक होता है। नील और लाल आभा के वर्ण से, लाल गुडहल जैसे नेत्रों वाला हो जाता है। पीले और ऊपर उठे

हुए केश युक्त और पंच मुद्राओं से अलंकृत चक्रधारी, कुण्डलधारी, कण्ठीध ारण किए हुए हाथ में चक्र मेखला लिए हुए पंच बुद्ध विशुद्ध मुद्राएँ कही गई हैं।

क्रुद्ध दृष्टि व्याघ्रचर्म को ओढ़े हुए, सोलह वृषों की आकृतिवाला, बाँई ओर वज्रकपाल और खट्वांग की भी स्थापना करे। और दक्षिण में हुंकारों का उच्चारण जिससे होता है, ऐसी कृष्ण वज्र नाथ (स्वामी) श्मशान में अष्ट योगिनियों के साथ क्रीड़ा करता है। इस युक्ति से श्मशान में श्वास लेने के कारण 'श्मशान' कहा जाता है।

नाथ का स्वरूप

चार भुजा और चारमारों से विजित, विशुद्धि से पूर्वोक्त वर्ण रूप "हूँ" से उत्पन्न, प्रथम वाम भुजा में नर कपाल को देव और असुरों के रक्त से पूरित किए हुए, पहली दक्षिण भुजा में वज्र और शेष दो भुजाओं में प्रज्ञा लिंगित वज्रवारा ही प्रज्ञा भगवत रूपिणी है। छः भुजा, तीन मुख, बांई और को रक्त और दक्षिण में चन्द्रमा के समान आभावाली, प्रथम नील को जो नग्न हो, पूर्वक्ति वर्ण रूप भुजाओं के छः से प्रारम्भ हुए विशुद्धि। प्रथम वाम भुजा में त्रिशूल, प्रथम दक्षिण भुजा में वज्र, द्वितीय वाम भुजा में घंटा, दक्षिण द्वितीय भुजा में कर्तरी और शेष भुजाओं में वज्र और श्रृंखला से सम्पन्न उसके समान भगवान हेरूक की प्रज्ञा दाहिने और बांई ओर कर्तरी–कपाल धारण किये त्रैधातुकाल के मृतक से आक्रान्त है।

****

२१

श्मशान-भेद चक्रस्वरूप मण्डल रचना

आदि श्मशान भेद

श्मशानं प्रेतसंहातं श्मशानं चोदधेस्त्तटम्।
उद्यानं वापिकाती रं उपश्मशानमुच्यते।।

आध्यत्मिक एवं वाह्य-पुट में योगिनयों की स्थिति एवं उनका स्वरूप

अध्यात्मकपुटे तावत्स्थिता वै पंचयोगिन्यः।
पंचस्कन्धस्वभावेन भावयेद् योगवित् सदा।।
इन्द्रे वज्रे यमे गौरी वारुण्यां वारियोगिनी।
कौवेरी वज्रडाकी च मध्येनैरात्म्ययोगिनी।।

बाह्यपुटे पुनः

गौरी चौरी वेताली च घरूमरी पुक्कसी तथा।
शवरी चण्डाली चैव अष्टमी डोम्बिनी मता।
अधोवत्यूर्ध्ववत्येन खेचरी भूचरी स्मृता।
भवनिर्वाणस्वभावेन स्थितावेतौ द्विदेवते।।

सर्वा देवत्यः

कृष्णवर्णा महारौद्रा पंचमुद्राविभूषिताः।
एकवक्त्राश्च रक्ताक्षाः कर्तृकपालधृक्कराः।।
चक्री कुण्डल कण्ठी च हस्तेरूचक मेखला।
पंचबुद्धविशुद्धयां च पञ्चैते शुद्धमुद्रकाः।।

सर्वा एतादृशाःख्याता यथा नैरात्म्ययोगिनी।
कपालैककरव्यग्रा दक्षिणे कर्तृधारिकाः।।

खट्वांग चैव वामेन व्याघ्रचर्माक्त्ता कटिः।
शवारूढ़ा ज्वलद्दीप्ता द्विभुजाः पिंगमूर्धजा।।

तथा मानादिषड्दोषान् कर्तिन्तु कर्तृका स्थिता।
भावाभावविकल्पस्य शिरसा पद्मभाजनम्।।

रक्तं च चतुर्माराणां पीयते सिद्धिहेतवे।
खट्वांग शून्यताकरैः शवोपायेन कल्पितम्।।

एतेन भावयेच्चक्रं लघु सिद्धिं अवाप्नुयात्।

संघा भाषा में विभिन्न परिभाषिक शब्दों के अर्थ

कौपीनं विश्ववर्णं च मृच्छारैर्भूषणं तथा।
पुष्पं प्रेतालये प्राप्त बन्धेयन्मूर्धजं वरम्।।

श्मशान-भेद

प्रेत समूह जहाँ हो, उसे 'श्मशान' कहते हैं। यह समुद्र का तट हो सकता है। उद्यान या किसी वावड़ी के किनारे का उप–श्मशान कहा जाता है।

अध्यात्मिक एवं वाह्यपुट में योगिनियों की स्थिति तथा स्वरूप

अध्यात्म्यपुट में पांच योगिनी स्थित हैं। पांच स्कन्धों के स्वभाव से योगी को उनकी भावना करनी चाहिए।

इन्द्र में, वज्र में, यम में ''गौरी'' होती है, और वारूणी में 'वारयोगिनी'। मध्यमें कौवेरी, वज्रडाकी और नैरात्म्य योगिनी है।

पुनः वाह्यपुर में–

१. गौरी, २. चौरी, ३. बैताली, ४. धस्मरी, ५. पुक्कसी, ६. शवरी, ७.

चाण्डाली और ८. डोम्बिनी मानी गई हैं। खेचरी अधोवती के रूप में, और भूचरी ऊर्ध्ववती के रूप में कही गई है। ये दोनों देवता भव और निर्वाण के रूप में स्थित हैं।

ये सभी देवता हैं

महारौद्रा कृष्ण वर्णवाली हैं और पांच मुद्राओं से विभूषित हैं। एक मुखी, रक्त नेत्रा, कर्तृरी और कृपाल कर में धारण करने वाली, चक्र धारण करने वाली (चक्री) कुण्डल धारण करने वाली (कुण्डल कण्ठी), कंठ में कोई आभूषण धारण करने वाली, हाथ में मेखला धारण की हुई (हस्तैरूचिर मेखला) पंचबुद्धा, विशुद्धा– ये पाँचों शुद्ध मुद्राएँ हैं। ये सब इसी प्रकार से विख्यात हैं जैसे कि नैरात्म्य योगिनी एक हाथ में कपाल से व्यग्र और दक्षिण हाथ में कर्तृरी धारण किए हुए हैं। बांए हाथ में खट्वांग और कटि में व्याघ्र–चर्म लपेटे हुए, शव पर चढ़ी हुई, प्रज्ज्वलित और प्रदीप्त दो भुजावाली पीले वस्त्रों वाली तथा मानादि छः दोषों को काटने के लिए हाथ में कैंची धारण करने वाली हैं। भाव–अभाव दोनों विकल्पों के लिए सिर पर पद्मपात्र लिए हुए हैं। और सिद्धि के लिए चार मारों (मृतक) के रक्त को पीती हैं। खट्वांग से शून्यता वाले हाथों से शव के उपाय से कल्पित इस भाव से चक्र का चिन्तन करे, तो उससे लघु सिद्धि (शीघ्र सिद्धि) प्राप्त होती है।

सन्धा भाषा में विभिन्न पारिभाषिक शब्दों के अर्थ

कोपीन अनेक रंग की है और उसके भूषण मिट्टी के क्षारों के हैं। श्मशान में प्राप्त पुष्प उसके मस्तक में बंधे हुए हैं।

भगवान आह–

वक्षाम्यहं वज्रगर्भ श्रृणु त्वं एकचेतसा।
सन्ध्याभाषं महाभाष समय संकेत विस्तरम्।।

मदनं मद्यं बलं मांसं मलयजं मलिनं मलम्।
गति खेटः शवः श्रायो अस्थ्याभरणं निरांशुकम्।।
अगतिः प्रेंखणं प्रोक्तं कृपीटं डमरूकं मतम्।
अभव्यं दुन्दुरं ख्यातं भव्यं कालिञ्जरं मतम्।।
अस्पर्श डिण्डिमं प्रोक्तं कपालं पद्मभाजनम्।
भक्षं तृप्तिकरं ज्ञेयं व्यञ्जन मालतीन्धनम्।।
गूथं चतुःसमं प्रोक्तं मूत्रं कस्तूरिका स्मृता।
स्वयम्भू सिल्हकं ज्ञेयं शुक्र कर्पूरकं मतम्।।
महामांसं शालिजं प्रोक्तं द्वीन्द्रिययोगं कुन्दुरम्।
वज्रं बोलकं ख्यातं पद्मकक्कोलकं मतम्।।
कुलं पंचविधं, ख्यातं वर्णभेदेनभेदितम्।
सन्धाभाषत एवं स्युर्बुद्धाश्च पंचकौलिकाः।।
डोम्बी वज्रकुली ख्याता नटी पद्मकुली तथा।
चण्डाली रत्नकुली चैव द्विजा तथागती मता।।
रजकी कर्मकुली चैव एता मुद्राः सुसिद्धिता।
आसां शुक्रं भवेत् वज्रं पूजयित्वा पिबेत् व्रती।।

हेवज्र का स्वरूप चक्र का स्वरूप एवं क्रिया

षोडश भुजं अष्टास्यं चतुश्चरण भयानकम्।
कपालमालिनं वीर नैरात्म्याश्लिष्टकन्धरम्।।
पंचमुद्राधरं देवं नैरात्म्या पृच्छति स्वयम्।
अस्मैच्चक्रं त्वया कथितं पंचदशपरिवारितम्।।
त्वदीयं मण्डलं कीदृक् प्राग् न ज्ञातं मया प्रभो।
चुम्बित्वा तु नैरात्म्यां क्षिप्त्वा बोलं कपालके।।
मर्दयित्वा स्तनौ देवो मण्डलं सम्प्रकाशयेत्।
-चक्रं पूर्व यथाकथितं हाराद्धहारशोभितम्।।
चतुष्कोणं चतुर्द्वारं वज्रसूत्रैरलंकृतम्।
-तत्र मध्येऽहंविद्यते त्वया सार्धं वरानने।।

महारागानुरागेन सहजानन्द स्वरूपतः।
अष्टास्यं चतुश्चरणं भुजाषोडशभूषितम्।।
चतुर्मारसमाक्रान्तं भयस्यापि भयंकरम्।

भगवान ने कहा– मैं वज्रगर्भ के विषय में कहता हूँ। तुम एकाग्रता से सुनो–

सन्ध्याभाव महाभाव है। उसके समय संकेत का विस्तान सुनो। मदन, मद्य, बल, मांस, चन्दन और मलिन मल, गति, खेट, शव, श्राय अस्थाभरण और निरंशुक। अगति को "प्रेखंण" कहा गया है "कृपीट" को डमरू कहा गया है। अभव्य को 'दुन्दुल' कहा है और भव्य को "कालिंजर" मानना चाहिए। अस्पर्श को 'डिमडिम' कहा है और कपाल को "पदम पात्र" कहा है। मालती ईंधन को– तृप्तिका भक्ष्य व्यंजन जानना चाहिए। गूथ–को "चतुःसम" कहा है और मूत्र को 'कस्तूरी' कहा है। और सिल्हक को स्वयंभू जानना चाहिए और शुक्र को 'कर्पूर'। महामांस को 'शालिज' '(भात) कहा है, और दो इन्द्रियों के योग को 'कुन्दुर' कहा है। वज्र को 'बोलक' कहा गया है तथा पद्म को 'कंकोलक' कहा है। वर्णन भेद से ५ प्रकार के कूल कहे गये हैं। सन्धा भाषित इस प्रकार से ५ तरह के कौलिक जानने चाहिए। डोम्बी "वज्रकुली" कही गई है और नदी "पद्मकुली"। चाण्डाली "रत्नकुली" और द्विजा "तथागती" कही गई है। रजकी (धोबिन) "कर्मकुशी" है। ये सब मुद्राएँ भली–भाँति सिद्ध की हुई हैं। इनका शुक्र वज्र होता है, जिसे पूजा करके व्रत करने वाला पान करें।

x x x x x x

हे वज्र सोलह भुजा, आठ मुख, चार चरण के भयानक स्वरूप वाले हैं। वे–कपाल माला धारण किए हुए, वीर मृतक के मस्तक का आलिंगन किए हुए हैं। नैरात्मा पाँच मुद्राधारी देव से स्वयं पूछती है कि तुमने मेरे चक्र को पन्द्रह परिवारों से युक्त कहा है, परन्तु तुम्हारा मण्डल कैसा है? हे प्रभु! जिसे पहले मैंने नहीं जाना, वह तुम्हारा मण्डल कैसा है? नैरात्म्या

को चूमकर और वोलको कपाल में डाल कर देवी स्तनों को मर्दन करके, मण्डल को प्रकाशित करते हैं। चक्र को पूर्व में जैसा कहा है, वह अधिकार के हार से सुशोभित हैं। हे सुन्दर मुखवाली चतुष्कोण और चार द्वारों वाले वज्र–सूत्रों से विभूषित ऐसे चक्र के मध्य में मैं तुम्हारे साथ विद्यमान हूँ। वहाँ मैं महाराग के अनुराग स्वरूप से ही स्वाभाविक आनन्दमय हूँ। अष्टमुख, चार चरण, सोलह भुजाओं से विभूषित, मैं चार मारों से भली–भाँति आक्रान्त भय के लिए भी भयंकर हूँ।

मुण्डमालाकृतहारं सूर्यस्यं ताण्डिवान्वितम्।
विश्ववज्रधरं मूर्ध्निः कृष्णवर्णभयानकम्।।
हूँकारं स्फारयेन्मुखाद भस्मोद्धूलित विग्रहम्।
रतिद्वन्द्वसमापन्नं नैरात्म्या सह संयुतम्।।

गौरी आदि देवियों का स्वरूप तथा उनकी स्थिति

हस्त्यश्वखरगावुष्ट्रमनुजसर भौकस्तथा।
दक्षिणाष्टकपालेषु क्रमेर्ज्ञेया द्विपादयः।।
पृथ्वी वरूण वायुश्च तेजश्चन्द्रार्क एव च।
अन्तको धनदश्चैव वामकाष्ट कपालके।।
श्रृंगारवीरवीभत्सरौद्रहास्य भयानकैः।
करूणाद्भुतशान्तैश्च रवनाद्यरसैर्युतम्।।
मातृचक्रे पुरे रम्ये भावयेद् ईदृशं प्रभुम्।
कृष्णवर्ण माहघोरं नैरात्म्येसुखदायकम्।।
गौर्या(हि) दक्षिणे कर्त्र्यवसव्ये रोहितस्तथा।
कृपीटं दक्षिणे चौर्या वामे पानौ वराहकम्।।
वेताल्या दक्षिणे कूर्म वामे मद्यभाजनम्।
घस्मर्या दक्षिणे सर्पः वामेन योगपात्रिका।।
पुक्कस्या दक्षिणे सिहं वामें परशुस्तथा।
शवर्या दक्षिणे भिक्षुर्वामें खिंखरिका तथा।।

चण्डल्या दक्षिणे चक्रं वामेन लाङ्गलं तथा।
डोम्ब्या दक्षिणे वज्रं वामे सव्यतर्जनी तथा।।
अर्द्धपर्यंकनाट्यस्था गौर्याद्या द्विभुजा मताः।
त्रिनेत्रा ऊर्द्ध्वकेशाश्च पंचमुद्राविभूषिता।।
कृष्णवर्णा भवेद् गौरी चौरी मार्तण्डसन्निभा।
वेताली तप्तहेमाभा घस्मरी मरकतोपमा।।
पुक्कसी इन्द्रनीलाभा शवरी चन्द्रमणिप्रभा।
चण्डाली च नभश्यामा डोम्बी कर्चूरा मता।।

मण्डल रचना

पुटं एकं चतुर्द्वारं नानारश्मिसमाकुलम्।
चतुष्तोरणसमायुक्तं वज्रसूत्रैर्विभूषितम्।।
पंचरेखासमायुक्तं अष्टौ (च) कलशा (स्ततौ) लिखेत्।
पंचरत्नमयैचूर्णैरथता तण्डुलादिभिः।।
श्मशानेष्टकेनापि श्मशानांगारकैस्तथा।
तन्मध्ये तु लिखेत् पद्मं अष्टपत्रं सकेशरम्।।
पुष्करे च लिखेन्नरकं शुक्लवर्णत्रिखण्डनम्।।

द्वादशांगुल पुस्तक तथा भोजन आदि के निर्देश

श्रृणु देवी महाभागे पुस्तकं कथयाम्यहम्।
भूर्जपत्रे लिखेत् समयी द्वादशांगुल पुस्तकम्।।
महामधुमसीं कृत्वा लेखन्यां मानुषास्थिभिः।
श्मशाने गिरिकुञ्च वा मानुष(स्य) पूरे तथा।।
अथवा विजने प्रान्ते इद्रं थोजन आरभेत्।
कल्पयेद् आसनं तत्र नवाख्यं शवरूपिणम्।।
अथवा व्याघ्रचर्मञ्च श्मशानकर्पटं तथा।
मध्ये हेवज्ररूपात्मा योगिनीनां ततो न्यसेत्।।
स्थान ज्ञात्वा यथापूर्वं दिशाशु विदिशासु च।

व्याघ्रचर्मोपरि भुंजीत समयस्य मालतीन्धनम्।।
भक्षणं च भक्षयेतत्र राजशालि प्रयत्नतः।
भुक्त्वा भुक्त्वा पुनस्तत्र पूज्यन्ते तत्र मातरः।।

टीका

मुंडमाला को धारण किये हुये, सूर्य में स्थित ताण्डव से सम्पन्न, विश्व वज्रधर मस्तक वाले, कृष्ण वर्ण, भयानक स्वरूप वाले, मुख से हुंकार निकालते हुए, सम्पूर्ण शरीर पर भस्म लगाये हुए तथा रतिद्वन्द्व से सम्पन्न नैरात्मा से युक्त हूँ।

x x x x x x

हाथी, घोड़ा, गधा, गाय, ऊँट, मनुष्य, शारभ तथा भालू—दाँई ओर के आठ कपालों में स्थित समझने चाहिए।

बाँई ओर के आठ कपालों में पृथ्वी, वरूण, वायु, अग्नि, सूर्य, चन्द्र, यमराज तथा कुबेर क्रमशः स्थित हैं।

श्रृंगार, बीर वीभत्स, रौद्र, हास्य, भयानक, वरूण, अद्भुत तथा शान्त रसों से युक्त मातृचक्र के रमणीयपुर में ऐसे प्रभु की भावना करनी चाहिए, जो कृष्णवर्ण, महाधोर तथा नैरात्मा को सुख देने वाले हैं।

गौरी के दाँयें हाथ में कर्तरी तथा बाँये में रोहित है। चौरी के दाँयें हाथ में कृपीट तथा बाँये हाथ में वराहक है। वैताली के दाँये हाथ में कूर्म तथा बाँये में मद्यपात्र है। घस्मरी के दाँये हाथ में सर्प तथा बाँये में योग पात्रिका है। पुक्कसी के दाँये हाथ में सिंह तथा बाँये में परशु है। शवरी के दाँये हाथ में इक्षु तथा बाँये में खिंखरिका (आँत) है। चाण्डाली के दाँये हाथ में चक्र तथा बाँये में पूँछ है। डोम्बी के दाँये हाथ में वज्र और बाँये में दाँई तर्जनी है। अर्द्धपर्यंक नाट्य में स्थित गौरी आदि दो भुजाओं वाली, तीन नेत्रों वाली, ऊर्ध्व केशों वाली तथा पाँच मुद्राओं से विभूषित है।

गौरी कृष्ण वर्ण, चौरी सूर्य जैसी आभावाली, पुक्कसी इन्द्रनील आभावाली, शवरी चन्द्रमणि की प्रभा जैसी, चाण्डाली आकाश के समान श्याम तथा डोम्बी कर्पूर वर्षा की है।

मण्डल रचना-

एक पुट, चार द्वार तथा अनेक प्रकार की किरणों से युक्त चार तोरणों वाले, बज्रसूत्रों से विभूषित, पंच रेखाओं से युक्त तथा आठ कलशों वाला मण्डल बनाये। तदुपरान्त पंचरत्नमय चूर्ण अथवा तण्डुल (चावल) आदि से, श्मशान से प्राप्त इष्ट पदार्थों से अथवा श्मशान के अंगारों से, उसके मध्य में अष्टदल वाले केसर युक्त कमल का निर्माण करना चाहिए।

x x x x x x

हे महाभागे। सुनो, अब मैं पुस्तक के विषय में कहता हूँ।

समय जानने वाला साधक भूर्जपत्र के ऊपर बारह अंगुल की पुस्तक को लिखें। इस हेतु महामधु की स्याही बनाकर, मनुष्य की हड्डी की कलम का प्रयोग करना चाहिए। श्मशान में, पर्वत के कुंज में, मनुष्य के पुर में अथवा किसी निर्जन कोने में इसकी योजना को आरम्भ करें। वहाँ पर नव–शव रूपी आसन की कल्पना करनी चाहिए अथवा व्याघ्रचर्म या श्मशान वस्त्र का आसन होना चाहिए। उसके मध्य में वज्र रूपाताका योगिनी को स्थापित करें एवं पूर्व की भाँति स्थान को जान कर, दिशाओं तथा विदिशाओं में, व्याघ्र चर्म पर बैठकर, मालती के ईंधन पर भोजन पकायें। फिर राजशंलि (भात) का प्रयत्न पूर्वक भक्षण करें। तत्पश्चात् उसमें पुनः माताओं की पूजा करें।

२२

हेवज्र की सिद्धि हेतु कापालिक की चर्या, स्वरूप, आचरण मुद्रा आदि का विधि निषेध

अतः परं प्रवक्ष्यामि चर्या परंगतां वराम्।
गम्यते येन सिद्धान्तं हेवज्र सिद्धिहेतुना।।
भावकेन वधर्त्तव्यं कर्णयोर्दिव्यकुण्डलम्।
शिरसि चक्री धर्त्तव्या हस्तयों रूचकद्वयम्।।
कट्यां वा मेखलं चैव पादयोर्नूपुरं तथा।
बहुमूले च केयूरं ग्रीवायां अस्थिमालिका।।
परिधानं व्याघ्रचर्म भक्षणं दशार्धामृतं।
हेरूकयोगस्य पुंसो विहारः पंचवर्णेषु।।
पंचवर्णसमायुक्तं एकवर्णतु कल्पितम्।
अनेकैनेकवर्णेन यस्माद् भेदो न लक्ष्यते।।
एकवृक्षे श्मशाने वा भावना कथ्यते शुभा।
मातृगृहे तथा रम्येऽथवा विजने प्रान्तरे।।
किचिंद् उष्मे तु संप्राप्ते चर्यां कर्तुं यदिष्यते।
सिद्धिं गन्तु यदिच्छास्ति चर्यया त्वनयाचरेत्।।
चारूवक्त्रा विशालाक्षीं रूपयौवनमण्डिताम्।
नीलोत्पलश्यामांगी च स्वाभिषिन्तां कृपावतीम्।।
वज्रकन्यां इमां गृह्यचर्या कर्तुं विबुध्यते।
वज्रकुलाभावात् स्वेष्टदेवकुलेन क्रियते अथवान्यकुलोमदवा।।
बोधिबीजनिक्षेपेण संस्कृतां (इमा) गृहलीयात्।

मुद्राएँ चार प्रकार की हैं–

१. महा मुद्रा, २. लाक्षणिक मुद्रा, ३. विधि मुद्रा, ४. क्रिया मुद्रा।

इनसे मिलती–जुलती तीन मुद्राएँ और हैं–

१. क्षेत्र के शुद्धीकरण की मुद्रा, २. मार्ग शुद्धिकरण की मुद्रा, ३. फल शुद्धि की मुद्रा।

दीक्षा प्रणाली

दीक्षा अर्थात् अभिषेक प्राप्त करने के लिए वज्रयान के असाधारण मार्ग का अनुसरण करना पड़ता है। इसके लिए तीन वस्तुएँ आवश्यक हैं–

१. मण्डल का वैशिष्ट्य– जिसमें दीक्षा दी जाती है।

२. गुरु का वैशिष्ट्य– जो दीक्षा देता है।

३. वह प्रणाली, जिसका अनुसरण करते हुए गुरु शिष्य को उचित मण्डल में प्रवेश कराता है।

मण्डल की विशेषताएँ

जिस मण्डल में दीक्षा दी जाती है, पहले उसका परिचय शिष्य से कराया जाता है तदुपरान्त उसे दीक्षित किया जाता है। इस उद्देश्य के लिए कि किस मण्डल में प्रवेश कराया जाय इस संबंध में आचार्य वज्रघंट ने जो लिखा है, उसके अनुसार मण्डल चार प्रकार के होते हैं–

१. रंगों के पाउडर द्वारा निर्मित मण्डल।

२. वस्त्रों पर चित्रित मण्डल।

३. ध्यान द्वारा निर्मित मण्डल।

४. काया को ही मण्डल स्वीकार करना।

ध्यान–मण्डल के लिए यह आवश्यक नही है कि कोई गुरु अथवा शिष्य इसे देने अथवा प्राप्त करने में सक्षम हो। इसके लिए गुरु को पूर्ण

समाधि की आवश्यकता पड़ती है तथा शिष्य को दृढ़ आस्था एवं विश्वास की आवश्यकता होती है। शिष्य की ज्ञानेन्द्रियों का जागरूक होना आवश्यक है।

जहाँ तक काया मण्डल की दीक्षा का प्रश्न है, व्यक्ति को रंगों के पाउडर अथवा वस्त्र पर चित्रित मण्डलों की दीक्षा का पूर्ण तथा विशिष्ट ज्ञान प्राप्त होना चाहिए। जब तक पहले वायुमण्डलों की दीक्षा प्राप्त नहीं होती, तब तक किसी को काया–मण्डल की दीक्षा नहीं देनी चाहिए।

रंगों के पाउडर द्वारा निर्मित अथवा वस्त्रों पर चित्रित मण्डलों की दीक्षा तभी क्रियाशील होती है, जब उसमें परिपक्वता के साधन मौजूद हों। वह परिपक्वता जागृति (समताल) को पुष्ट करती है। ऐसे बहुत से मार्ग हैं, जिनका अनुसरण करके शिष्य 'संभार' (साधन) प्राप्त करता है तथा बाधाओं को हटाता है। परन्तु मुख्य आवश्यकता इस बात की है कि वह मन्त्र मार्ग का विशिष्ट साधक बने। महासिद्धों के ग्रंथ तथा अधिकांश अन्य तन्त्र शास्त्र भी यही कहते हैं कि दो मण्डलों (ध्यान तथा वस्त्र चित्रित) की अपेक्षा रंगों के पाउडर द्वारा निर्मित मण्डल अधिक महत्वपूर्ण है।

दीक्षा देने वाले गुरु की विशेषताएँ-

अश्वघोष की "गुरु पंचाशिका" में गुरु–स्तुति के पचास छन्द हैं, उनमें कह गया है कि गुरु को दृढ़, आत्मसंयमी तथा कुशाग्र बुद्धि होना चाहिए तात्पर्य यह है कि उसमें आन्तरिक तथा वाह्य श्रेणियों के दस तत्व विद्यमान रहने चाहिए।

दस तत्वों में पाँच क्रियाएें वायी टांग से तथा पाँच दांयीं टाँग से की जाती हैं अर्थात् बायी टाँग को पाँच प्रकार से मोड़ने तथा दायीं टाँग को पाँच प्रकार से बढ़ाने का ज्ञान होना गुरु के लिए आवश्यक है। गुरु को शास्त्र, सूत्र, मन्त्र तथा तन्त्र का पूर्ण ज्ञाता होना चाहिए। गुरु ही मूल बाधाओं पर विजय प्राप्त करता है। मूल बाधाओं में वज्रपर्यंक आसन से

हिलना मुख्य है। अर्थात् गुरु वज्रपर्यक आसन पर हिलना नहीं है। व्यक्तिगत रूप से मण्डल में प्रवेश करते समय वह अपने सम्बर (निष्ठा) की रक्षा करता है।

शिष्य को दीक्षा देते समय गुरु का मन्त्र–निष्ठा से अभिभूत होना आवश्यक है। जब तक वह मन्त्र–निष्ठा से अभिभूत नहीं होगा, तब तक केवल मन्त्र का उच्चारण करने मात्र से ही शिष्य को कोई लाभ नहीं होता, क्योंकि ऐसे स्थिति में मन्त्र–मार्ग का आधार चेतना की धारा में स्थापित नहीं हो पाता, फलतः दोनों ही पक्ष (गुरु और शिष्य) छले जाते हैं।

मण्डल क्रिया में गुरु स्वयं मण्डल में प्रवेश करता है, दूसरे को दीक्षित करता है तथा प्रतिष्ठा में होम (हवन) भी करता है। जब गुरु ऐसी क्रियाएँ करे तो उसे पहले सेवा तथा अन्य क्रियाएँ पूर्ण करनी चाहिए। ये क्रिंयाएँ उसके देवता के योग से संबंध रखती हैं, जिसका कि वह आश्रय चाहता है। यदि ये क्रियाएँ नहीं की जायेंगी तो भ्रम, हानि तथा स्वयं की क्षति का उत्तरदायी भी होना पड़ेगा।

"हे वज्रतन्त्र" में सेवा की परिभाषा के विषय में कहा गया है–

मंडल–चक्रेश (मंडलेश्वर) के लिए एक लाख बार स्तवन करना चाहिए तथा मंडल के मंडालय (मंडप) के लिए दस हजार बार।

"अनुत्तर" के अनुसार– भी चक्रेश के लिए एक लाख बार तथा मंडालय के लिए दस हजार बार स्तवन करने का निर्देश है। सुपरिग्रह तथा "वज्रावली मंडल साधना" में कहा गया है कि जिस देवता पर पुष्प चढ़ाया जाता है, उसके लिए एक लाख बार स्तवन करना चाहिए। कालचक्र में एक लाख बार धरणी का स्तवन करने की आज्ञा है, इससे साकार ज्ञान का अवतरण होता है। इसके अतिरिक्त दशांश हवन भी किया जाना चाहिए।

"गुह्य समाज मंडल विधि" में भी एक लाख बार स्तवन करने से साकार–ज्ञान के अवतरण की बात कही गयी है। साथ ही दस हजार धरणी (मंत्र) के जप का भी निर्देश किया गया है। धरणी पर माला चढ़ाने से अवरोधों का अवसान होता है, परन्तु इसमें यह नहीं बताया गया है कि होम तथा अन्य क्रिया की जायँ अथवा नहीं।

"सेवा–प्रणली" में यह कहा गया है कि मूल धरणी का प्रयोग आवश्यक नहीं है। यदि किसी ने मन से सेवा करली तो वह मंडल प्रवेश का अधिकारी बन जाता है।

एक लाख बार चक्रेश का स्तवन तथा दस हजार बार मडालय का स्तवन– यह एक सामान्य नियम है, परन्तु 'संवरोदय' ग्रन्थ का कहना है कि कलियुग अर्थात संघर्ष के युग में केवल चार बार स्तवन कर लेना ही पर्याप्त है। संवरोदय में सेवा संबंधी जो क्रियाएं बतायी गयी हैं, वे सिद्धि से संबंधित, परम्परागत क्रियायें हैं। उसमें मंडल क्रियाओं के लिए ऐसी किसी आवश्यकता पर बल नहीं दिया गया है।

कुछ विद्वा के मतानुसार यदि एक ही मंडल के मंडालय तथा चक्रेश की सेवा करली जाय तो दूसरे मंडलों के लिए किसी विशेष सेवा की आवश्यकता नहीं रहती। गुरु ही मंडल क्रियाओं में प्रवेश कर सकता है। क्रिया से तात्पर्य यहाँ दीक्षा से है। चूँकि सभी देवताओं का तत्व वस्तुतः एक ही हैं। अतः एक ही मंडल से काम चल सकता है। उस एक तत्व का नाम है– सुख–शून्य। परिणामतः यदि क्रिया तंत्र के नौ देवताओं में से जो "अभितायुष" से दीक्षित होना चाहता है, तो वह स्वत ही समस्त मंडलों में दीक्षा प्राप्त कर लेता है।

कहा गया है कि सेवा को चतुसंधाओं (चार संध्याओं) के माध्यम से पूर्ण करने के बाद साधक–शिष्य दीक्षा की प्रार्थना करता है, तब गुरु उसे स्वीकृति देता है। मंडल की सेवा में काले संवर के धूपदान का भी प्रयोग

किया जाता है, परन्तु यह तथ्य स्वीकार करने योग्य नहीं है, क्योंकि किसी भी प्रामाणिक ग्रन्थ में इसका उल्लेख नहीं मिलता।

परन्तु, चतुसंध्या फलदायक होती है। सेवा की अवधि में इसे उचित ढँग से संपन्न करना चाहिए। इसके लिए साधक में मानसिक पवित्रता का जाग्रत् होना अत्यन्त आवश्यक है, तथा इस बात का भी संकेत मिलना चाहिए कि अभीष्ट देवता ऐसी दीक्षा का विरोध नहीं कर रहा है। यह मंडल की क्रिया में प्रविष्ट होने तथा दीक्षा लेने अथवा देने की आवश्यक शर्त है। यदि देवताओं की अनुज्ञा प्राप्त हो जाती है तो वह दीक्षित हो सकता है। उस समय मंडल की अन्य प्रमाणिक एवं निर्धारित क्रियाओं तथा सेवा की असंख्य विधियों की आवश्यकता नहीं रहती। इसमें देवता की आज्ञा ही प्रधान होती है। देवता की आज्ञा को स्वप्नों के द्वारा अथवा उसकी व्याख्या करने की क्षमता के द्वारा ही सुनिश्चित किया जा सकता है।

निर्दिष्ट मंडल में शिष्य को दीक्षित करने की विधि:

इसके तीन विभाग हैं—

१. रंगीन पाउडर द्वारा निर्मित मंडल में प्रविष्ट करके दीक्षित करना।

२. वस्त्र पर चित्रित मंडल में दीक्षित करना।

३. कायिक—मंडल में दीक्षित करना।

रंगीन पाउडरों द्वारा निर्मित मंडल को 'रजोमंडल' कहा जाता है। इसके तीन विभाग हैं—

१. मंडल निर्माण की क्रिया।

२. मंडल सिद्ध करने की क्रिया।

३. सिद्धि के पश्चात् दीक्षा की क्रिया।

मंडल निर्माण की क्रिया— इसके भी तीन उपविभाग हैं— १. स्थान-

पूजन, २. निर्माण संबंधी क्रियाओं का पूजन, ३. मंडल निर्माण की क्रियाओं का पूजन।

स्थान पूजा- इसके पाँच विभाग हैं– १. स्थान की खोज अथवा निरीक्षण, २. स्थान के लिए प्रार्थता, ३. स्थान का शुद्धिकरण, ४. स्थान का अधिपत्य तथा ५. स्थान की रक्षा एवं आशीष।

१. **स्थान की खोज**– इसमें यह देखा जाता है कि स्थान मंडल खींचने के उपयुक्त है अथवा नहीं।

२. **स्थान के लिए प्रार्थना**– इसमें स्थान के प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष स्वामी से मंडल खींचने की आज्ञा प्राप्त की जाती है।

प्रत्यक्ष स्वामी, जो भी स्थान का अधिपति हो, जैसे– राजा अथवा ग्राम प्रधान आदि, उनसे स्थान की माँग की जाती है तथा यह भी देखा जाता है कि वह स्थान मण्डल निर्माण के योग्य है अथवा नहीं।

जब स्थान का कोई स्वामी दिखाई न दे तो अप्रत्यक्ष स्वामी से मण्डल निर्माण हेतु स्थान की प्रार्थना की जाती है। ''संवर काल चक्र'' के अनुसार आधि दैवीय शक्ति से प्रार्थना करके स्थान की माँग कर ली जाती है और यह मानकर चला जाता है कि आज्ञा प्राप्त हो गई है।

३. **स्थान शुद्धि**- इसके दो भाग हैं (अ) खोद कर शुद्ध करना, (ब) केवल शुद्ध करना, जिसमें खोदने की आवश्यकता न पड़े।

खोद कर शुद्ध करना– जब मण्डल के भीतर किसी भवन का चित्र बनाना हो तो उसके लिए स्थान को खोदना आवश्यक होता है। वहाँ कंकड़, पत्थर, काँटे–झाणियां आदि हटा दी जाती हैं। इस हेतु एक हाथ की गहराई वाला गढ्ढा, जिसे ''उरग'' कहते हैं, खींचना होता है। उरग के साथ आठ प्रकार के नागराज सम्मिलित किए जाते हैं– १. पूँछ के पृष्ठ भाग पर कुलिक, २. त्रिक पर परकोटक, ३. कंधे पर महापद्म, ४.

हृदय पर वासुकि, ५. नाभि पर शंखपाल, ६. गर्दन पर तक्षक, ७. कान पर पद्म तथा ८. सिर पर अनन्त।

उरग को कर्मचक्र का पूरक भी माना जाता है। यह स्थान वर्गाकार होता है तथा वर्ग की चार भुजायें पूर्व आदि चार दिशाओं को सूचित करती हैं। फिर वर्ग की प्रत्येक भुजा को तीन भागों में बाँटा जाता है। यह प्रत्येक भाग महीने के सूचक होते हैं। फिर एक भाग को तीस हिस्सों में बाँटा जाता है, जो कि महीने के तीस दिनों के सूचक होते हैं। फिर प्रत्येक भाग के नब्बे भाग और किए जाते हैं, जो कि ज्योतिष के अनुसार अंशों के सूचक होते हैं।

कक्षा को रेखांकित करते समय दो या तीन फावड़ों की मिट्टी निकाली जाती है, तदुपरान्त आवश्यक होने पर आगे भी खुदाई की जा सकती है; परन्तु यह ध्यान रखा जाता है कि क्षेत्र–स्वामी के प्रति कोई जघन्य अपराध न हो जाए।

बिना खोदे शुद्धिकरण की क्रिया–यदि मण्डल बिहार, देवालय तथा लयाना (आवास–स्थल का तिब्बती शब्द) में हो तो मिट्टी खोदने की आवश्यकता नहीं पड़ती। ऐसी स्थिति में मंत्र ध्यान आदि के द्वारा स्थान को शुद्ध कर लिया जाता है। इस क्रिया में जल, भस्मी तथा सफेद सरसों के दानों का प्रयोग किया जाता है। मन्त्रोचारण में "ॐ भूखम्" आदि मन्त्रों का उच्चारण होता है। शून्य का चिन्तन करते हुए ध्यान किया जाता है।

४. **स्थान का आधिपत्य**– स्थान शुद्धि के पश्चात गुरु स्थान के मध्य में बैठता है। उसका मुँह मण्डल के पूर्वी द्वार की ओर होता है। साधना की समस्त क्रियाओं को पूर्ण करने के उपरान्त वह इस प्रकार चिन्तन करता है कि मैं उस मण्डल का रेखांकन करूँगा, जिसके बारे में मैने सोच रखा है। इस शपथ क्रिया के साथ ही स्थान–आधिपत्य की क्रिया पूर्ण होती है।

५. **स्थान की रक्षा और आशीर्वाचन**– चार गुरु चार दिशाओं में मण्डल की प्रारंभिक तैयारी करते हैं। चारों द्वारों पर भेंट दी जाती है तथा मण्डल निर्माण–क्रिया हेतु प्रार्थना की जाती है। उस क्रिया में वे मन्त्रों सहित मण्डल को आकाश में उठा लेने की मुद्रा धारण करते हैं। तदुपरान्त वे अपने स्वामियों (देवताओं) की कृपा से एक ज्योति प्रज्ज्वलित करते हैं जिसकी लौ दो भागों में बँट जाती है। इस लौ की सहायता से बाधा डालने वाले क्रोधी देवताओं को भगाया जाता है। तदुपरान्त "सम्पुट क्रिया" की जाती है जिसमें जादुई–नाखून द्वारा उन्हें कील दिया जाता है रक्षा चक्र द्वारा विघ्नकर्ता राक्षसों से स्वयं की रक्षा की जाती है तथा मन्त्रों एवं मुद्राओं द्वारा मण्डल स्थान को आशीष दी जाती है, ताकि वह वज्र स्वरूप हो जाए। ये सामान्य क्रियाऐं हैं तथा इनकी आवश्यकता अनुत्तर मण्डल में पड़ती है। " कालचक्र" में कहा गया है कि इन क्रियाओं के छोटे–मोटे भेद भी हैं।

निर्माण संबंधी क्रियाओं का विधान-

इसके चार विभाग हैं–

१. धरती माता की तैयारी।

२. मण्डल के देवताओं की तैयारी।

३. कलश की तैयारी।

४. शिष्य की तैयारी।

यहाँ तैयारी से तात्पर्य सत्वगुण से है। इसका दूसरा नाम नीव है तथा इसे अधिष्ठान भी कहते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि अर्घ्य साधना में शिष्य को भी तैयार किया जाए। गुरु जब स्वयं मंडल में प्रवेश करता है तो इस प्रकार की क्रियाऐं शिष्य की दीक्षा का अंग नहीं होती।

१. **धरती माता की तैयारी**– स्थान के बीच में जहाँ मण्डल खींचा जाना है, थोड़ी सी मिट्टी पृथ्वी देवी के रूप में रखी जाती है। फिर उस

प्रतीकात्मक आकार का आह्वान किया जाता है, जिसे (समयसत्व) कहते हैं। तदुपरान्त साकार ज्ञान को, जिसे 'ज्ञान सत्व' कहते हैं, अर्घ्य भेंट किया जाता है और यह माना जाता है कि इससे ज्ञान–सत्व पृथ्वी देवी के भीतर समाहित हो जाएगा। फिर साधक पृथ्वी देवी से मण्डल खींचने की आज्ञा देने की प्रार्थना करता है तथा उसका साक्ष्य चाहता है। इस अवसर पर बलि भेंट करनी चाहिए अथवा नहीं इस बारे में मतभेद है।

२. **मण्डल के देवताओं की तैयारी**– इसमें स्थान पर रंगों के पाउडर द्वारा निर्मित मण्डल का आशीर्वाचन (स्तुतिगान) होता है तथा देवताओं से प्रार्थना की जाती है कि वे उसे कृपापूर्वक ध्यान से सुने। इसकी प्रणाली निम्नानुसार है–

मण्डल खींचने के स्थान पर पहले सुगन्धित इत्र की एक बूँद डाली जाती है तथा फूलों का एक छोटा सा ढेर भी रखा जाता है। जिस स्थान पर इत्र तथा पुष्प रखे जाते हैं, उसके बाहर एक रेखा खींची जाती है, इसलिए कि रंगों द्वारा पवित्र चिन्हों का निर्माण करते समय कहीं कोई गलती न हो। यह सावधानी अत्यन्त आवश्यक है। जबतक रेखा नहीं खींची जाएगी, तब तक मण्डल को सफल नहीं माना जाएगा। वाह्य रेखा खींचने में दो प्रकार की क्रियाऐं होती हैं–

१. कर्म सूत्र
२. ज्ञान सूत्र

कर्मसूत्र एवं ज्ञान सूत्र की रेखाएँ

पहले कर्मसूत्र की तदुपरान्त ज्ञान सूत्र की रेखा बनाई जाती है। ज्ञान सूत्र की रेखा कर्म सूत्र की रेखा से ऊपर खींची जाती है। ये दोनों रेखाऐं मण्डल के ढाँचे की रेखाओं के लिए प्रारंभिक आवश्यकताएँ हैं। यदि विरोधाभास हो जाए अर्थात् पहले ज्ञान सूत्र की और उसके ऊपर कर्मसूत्र की रेखा अंकित की जाए तो वह मान्य नहीं होगी, क्योकि ऐसी स्थिति

में ज्ञान–सूत्र की रेखा कर्म–सूत्र की रेखा को आशीर्वचन नहीं देगी। चूँकि देवताओं के आह्वान के समय पहले ज्ञान स्तव का, तदुपरान्त समय सत्व का आह्वान किया जाता है। अतः ऐसी स्थिति में बहुत हानि हो जाती है।

पूर्वकालिक गुरु ऐसी व्यवस्था का अनुसरण नहीं करते थे। परन्तु तिब्बति विचारधारा में मण्डल कैसा भी हो, कर्म–सूत्र की रेखा ही सब कार्यों को करेगी तथा उसी से आशीर्वचन भी प्राप्त होगा। अतः इस रेखा का निर्माण आवश्यक है।

कलश–क्रिया में समस्त कार्यों को सिद्ध करने वाले देवता का आह्वान किया जाता है जिसे क्रियाशील–कलश भी कहते हैं। पण्डित अमोघवज्र जैसे विद्वान भी इस क्रिया का समर्थन करते हैं। रेखाओं को खींचने वाले धागे का रंग सफेद होता है। उसे पहले गीला कर लेते हैं। तदुपरान्त खड़िया में रगड़कर उसके द्वारा एक गीली रेखा बना दी जाती है। तथा जब तक ज्ञान सूत्र रेखा निर्मित नहीं की जाती, तब तक सुगन्ध की बूँद डाली जाती है।

प्रतीक देवता के आह्वान के पश्चात् जब ज्ञान सत्व प्रविष्ट होता है, तब मण्डल निर्माण की अनवरत प्रक्रिया में मण्डल को आकाश की ओर उठाया जाता है और यह समझा जाता है कि उसमें ज्ञान–सत्व उतर आया है। इस प्रकार उसे समाहित करने के अतिरिक्त ज्ञान सत्व के लिए कुछ और नहीं करना पड़ता। इसे प्राप्त करने के बाद भेंट स्तवन आदि का ज्ञान करके आनन्दामृत प्राप्त किया जाता है तथा देवताओं से कहा जाता है कि वे कृपा पूर्वक प्रार्थना पर ध्यान दें।

इसके बाद ज्ञान रेखा का निर्माण किया जाता है। इस काम के लिए पाँच रंगों वाली डोरी प्रयोग में लाई जाती है। ये पाँच रंग पाँच कुलों के प्रतीक होते हैं। प्रत्येक कुल पाँच कुलों के लिए पच्चीस धागों की

आवश्यकता पड़ती है तथा सभी धागों को एक में बँट कर उसके द्वारा शुष्क रेखा का निर्माण किया जाता है।

कलश की तैयारी

ज्ञान रेखा से निर्माण के पूर्व तैयार किए हुए मण्डल को आकाश की ओर उठाया जा सकता है अथवा पहले कलश निर्माण करें, बाद में मण्डल को उठायें। ज्ञान रेखा के निर्माण के दो तरीके बतायें गये हैं।

आह्वान की अच्छी जानकारी होने पर कलशों की व्यवस्था की जाती है। विस्तार में तो कलशों की गिनती देवताओं के बराबर रहती है, परन्तु यदि कोई साधक इतना न कर सके तो केवल पाँच कलशों की व्यवस्था ही पर्याप्त रहेगी। एक कलश ऐसा होना चाहिए जो माता–पिता की युगनद्धता में स्वामी का रूप हो। चार अन्य कलश पूर्व, पश्चिम, उत्तर एवं दक्षिण दिशाओं के स्वामी से संबंधित रहते हैं। स्मरणीय है कि चार दिशाओं में कलश रखने की क्रिया तथा उनमें देवताओं को जाग्रत करने की प्रणाली का पूर्ण ज्ञान होना आवश्यक है।

यदि पाँच कलशों की व्यवस्था न कर सके तो केवल दो कलशों पर भी निर्भर रहा जा सकता है। उन दो कलशों के नाम क्रमशः विजय–कलश तथा कर्म–कलश होते हैं। विजय–कलश का प्रयोग दीक्षा के समय गुरु मण्डल में प्रविष्ट होने की स्थिति में तथा अन्य प्रकार की जल संबंधी दीक्षाओं में होता है। जबकि कर्म–कलश का प्रयोग मण्डल को अभिसंचित करने के लिए, भेंट सामग्री के लिए, गुरु के स्वयं के लिए, स्थान के लिए तथा शिष्यों के लिए किया जाता है।

कलशों को पूर्णता देने हेतु एक मत तो यह है कि सभी देवताओं का विजय–कलश में आह्वान किया जाय, तदुपरान्त देवताओं को पूर्ण रूप से शंख और कपाल में अभिमंत्रित किया जाए, जिन्हें विजय–कलश के ऊपर ही स्थापित किया जाता है।

दूसरा मत यह है कि देवताओं को शंख में अभिमंत्रित करने की कोई आवश्यकता नहीं है। उनका शंख में दर्पण के प्रतिबिम्ब की भाँति चिन्तन करना ही उचित है।

एक अन्य विद्वान् के मतानुसार शंख में केवल माता–पिता की युगनद्धता के स्वामी का ही आह्वान करना चाहिए।

परन्तु उक्त तीनों मत अप्रमाणिक हैं, क्योकि किसी भी ग्रंथ में इनका प्रमाण नहीं मिलता।

'कालचक्र' में तीन कलशों का वर्णन है–

१. जय, २. विजय, ३. महाविजय।

जय और विजय कलश सबसे ऊपर हैं। तन्त्र में इनके नीचे दस कलशों का वर्णन किया गया है। महाविजय–कलश को शंख के रूप में लिया गया है। एक ओर तो यह कहा गया है कि सब देवताओं का आह्वान किया जाना चाहिए, परन्तु यह नहीं बताया गया कि किसी एक देवता का विजय कलश के अतिरिक्त अन्य कलशों में भी आह्वान किया जाए अथवा नहीं, अतः इसे भी प्रामाणिक नहीं माना जा सकता, परन्तु तिब्बति–परम्परा में मण्डल के सभी देवताओं को विजय–कलश में अवश्यभावी रूप से आह्वान किया जाता है। इसके दो तरीके हैं– भले ही कोई आह्वान अथवा अभिमन्त्रण करता हो अथवा न करता हो।

शंख को सुगन्धित जल से भरकर जय–कलश के ऊपर रखा जाता है। तदुपरान्त "उदक" (जब स्तोत्र) का पाठ होता है तथा तीन बार "ॐ आपोह्वाम्" का पाठ किया जाता है। यह पाठ जल को "वज्रामृत" में परिवर्तित करने के लिए किया जाता है। तदुपरान्त जय–कलश में अभिमंत्रित जल देवताओं को अर्घ्य के रूप में दिया जाता है। शंख के जल के साथ ही बलि पुष्पों की भेंट तथा स्तवन आदि की क्रियाऐं होती

हैं। अनुत्तर क्रिया में जल तथा देवताओं को यह मानकर एकत्र कर दिया जाता है कि माता–पिता की युगनद्धता में स्वामी अर्थात् देवता प्रविष्ट हो गया है। ये सब "महाराग" (बड़ी वासनाऐं) के कारण हैं। ये कलश के जल से अलग नहीं हो सकते। यदि यह पूछा जाए कि जो भृत्य वर्ग (मण्डालय) का क्या होगा जो माता–पिता की युगनद्धता के सदस्य नहीं



हैं। तो इसका यह उत्तर है कि स्वामी तथा उसके सभी भृत्य उस मण्डल में चेतन्यता के एक ही प्रवाह में रहते हैं। जब पवित्र युगल आनन्द में भरकर स्खलित होते हैं, तब उनकी प्रसन्नता की शक्ति से भृत्य–वर्ग भी आनन्दित तथा स्खलित होता है। इस विचारधारा के अनुसार निमित्त देवताओं को भी जल के साथ ही स्खलित होना पड़ता है। कुछ लोग ऐसे समय में "हीरक अमृत जल" को वज्र के सिर पर छिड़कते हैं, परन्तु ज्ञानी पुरुषों ने इस स्थिति को हास्यास्पद माना है।

शिष्य की तैयारी

शिष्य को तैयार करने के लिए प्रारंभिक आवश्यकता इस बात की

है कि उसकी चेतना धारा को पवित्र कर दिया जाए, ताकि वह वज्रयान सम्प्रदाय को ग्रहण करने में समर्थ हो सके। इस तैयारी में गुह्यदीक्षा में वज्रयान सम्प्रदाय के कुल का निर्णय करने के विषय में भी बताया जाता है। यदि इस प्रकार का निर्णय पहले ही न किया जाए तो शिष्य को दीक्षा देना उचित नहीं होगा।

मण्डल निर्माण की विधि

ज्ञान सूत्र रेखा खींचने के बाद रंगों द्वारा मण्डल का निर्माण करने की ओर अग्रसर हुआ जाता है। उसे पूरा करके मण्डलों के निवासियों की श्रृंखला में एक अथवा तीन मुद्राओं की व्यवस्था की जाती है। तीन मुद्राये निम्नानुसार हैं–

समय मुद्रा- इसे रूप देने के लिए देवता के हस्तचिन्ह की व्यवस्था की जाती है। यह देवता मण्डल की स्थिति के अनुसार होता है।

धर्म मुद्रा- इसमें देवता की स्थिति के अनुसार बीजाक्षर (वाणी) की व्यवस्था की जाती है।

महामुद्रा- इसका संबंध शरीर से है। इसमें मण्डल के भीतर मण्डल से संबंधित देवता की पूर्ण काया की आकृति रंगों द्वारा खींची जाती है। इस स्थिति में ढली मूर्तियों का प्रयोग भी किया जा सकता है। जब मण्डल में आधार तथा आधेय की निर्माण क्रिया पूरी हो जाय, तब उसे छत्र, घण्टी, बन्दनवार, झंडी तथा पात्र आदि से सजाया जाता है।

मण्डल को सम्पूर्णता देने की विधि

इसके दो तरीके हैं–

१. स्वयं बनाना, २. अपने सामने बनवाना।

तिब्बत महासिद्ध दारिका–पा इन दोनों पद्धतियों में अन्तर मानते है, परन्तु भारतीय विद्वान् दोनों पद्धतियों को एक सा मानते हैं। प्राचीन तिब्बती

गुरु भी भारतीय विचारधारा का ही समर्थन करते हैं। इसमें व्यक्ति साकार ज्ञान–तत्व को स्वाभाविक स्थान से आमंत्रित करता है तथा वज्र मुद्रा एवं मूल धारणी का पाठ करते हुए यह कल्पना करता है कि उसने अपनी सिद्धि के मार्ग से अवरोध उत्पन्न करने वाले सभी राक्षसों को हटा दिया है। इस प्रकार सुरक्षात्मक वृत्त आगे बढ़ता है तथा उसमें ज्ञान तत्व का अवतरण होता है। ज्ञान सत्व के अवतरित होते ही साधक "रक्षा" शब्द का उच्चारण करता है। तदुपरान्त वह वृत्त वज्र मुद्रा से बाँध कर सात दिनों तक भेंट चढ़ाता रहता है। इस प्रक्रिया में एक अन्य लौ पहली लौ से अलग होती है। इस प्रकार वह प्रतिदिन एक मण्डल को दूसरे से अलग करता है। उसे आकाश मण्डल की ओर उठाता है तथा दूसरे मण्डल को रंगों के पाउडर से भरता है। देवताओं को विसर्जित करने वाली सन्ध्‍या को वह आकाश वाले निर्मित मण्डल को छोड़े बिना इसे रंगीन मण्डलों में लीन कर देता है। इसे "वृत्ताकार मण्डल" समन्वयनविधि कहा जाता है।

भारतीय विचारधारा में भी दो वर्ग पाए जाते हैं, जो स्वयं निर्माण करना तथा अपने सामने निर्माण कराना की प्रक्रियाओं के एकीकरण का समर्थन करते हैं। पहली भारतीय विचारधारा यह मानती है कि साधक स्वयं को स्व–निर्माण क्रिया से अलग समझते हुए स्वयं को यह विश्वास कराता है कि वह रंग पूर्ण मण्डल के मध्य में अथवा किसी चित्रित मण्डल में पहुँचा दिया गया है। इस प्रकार की पूर्णता "सम्मुख क्रियान्वित पूर्णता" कही जाती है। यह सही है कि वह धर्मोदय तथा वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी आदि को स्वयं के भीतर अनुभव करता है साथ ही–१.बीज, २.मुद्रा और ३. देवताओं के स्वरूप का आह्वान करता है। इस क्रिया से देवता साधक के शरीर, वाणी तथा मस्तिष्क की रक्षा करते हैं और आशीर्वाद देते हैं। साधक ज्ञानियों को अपनी ओर आकर्षित करता है तथा कुल के स्वामी की मुद्रा को धारण कर भेंट देता और मण्डल में प्रवेश करता

है। इसके उपरान्त वह अपने गुरु तथा स्वामी को एक रूप में देखता और स्वंय दीक्षा देता है।

महासिद्धों ने इस प्रकार का कोई मार्ग निश्चित नहीं किया है तथापि बहुत से पण्डितों ने इसे स्वीकार किया है और यह सरलतापूर्वक अनुकरणीय भी है।

****



४. उपपादुका (प्रवाही)

इस प्रकार देवताओं का प्राक्ट्य भी चार प्रकार का कहा गया है। यह विचारधारा संदिग्ध और अप्रमाणिक है। इन विद्वानों के अनुत्तर मार्ग द्वारा एक ही जन्म में "बुद्धत्व" प्राप्त करने की विज्ञता में भ्रम हो गया है। वह इस तथ्य को पूर्ण समझ नहीं पाये कि बुद्धत्व एक ही जन्म में प्राप्त किया जा सकता है।

हमारी मान्यता के अनुसार जन्म और मृत्यु तथा जन्म–मृत्यु की सहज स्थिति, शुद्धीकरण के तीन क्षेत्रों के पथ का अनुशीलन करके ही उत्पत्ति कार्य तथा निष्पादित कर्म का संपादन किया जाता है।

विद्वानों की मान्यता है कि–

(अ) जन्म का सम्बन्ध निर्मल काया से
(आ) मृत्यु का सम्बन्ध धर्म काया से
(इ) मध्य का सम्बन्ध सम्भोग काया से

है। फिर आगे भारतीय मुनियों के ग्रन्थों में ऐसा वर्णन है कि जम्बूद्वीप के व्यक्ति गर्भ से उत्पन्न होते हैं और वे ६ धातुओं से नियन्त्रित रहते हैं। वे ६ धातुएँ हैं–

१. पृथ्वी, २. तोय (जल), ३. अग्नि (तेज), ४. वायु, ५. आकाश, ६. ज्ञान।

उत्पत्ति कर्म में, विचार–परिकल्पना तथा बुद्धि के द्वारा ही क्रियाऐं संपादित होती हैं।

निष्पादित कर्म– एक ध्येय का ध्यान करते हुए वायु और बिन्दु को देह नाड़ी में अवस्थित करते हैं। ये केवल स्वयं (दूसरे शब्दों में चिन्तन में धारणीय) होते हैं। ये वायु को रहने और घुलने के लिए अवधूती नाड़ी में छोड़ने का चिन्तन करते हैं। इन सबको निष्पादित–कर्म कहा जाता है। इसमें "शून्य शून्यता" के उपभेद का बोध होता है।

निष्पादित कर्म को कुछ विशिष्ट व्याख्याओं द्वारा भी समझना पड़ता है, इसमें "इवम्" को पहले ही समझना पड़ेगा।

सामन्यतः समस्त अनुत्तर तन्त्र की श्रेणियों में सुख–शून्य अभिन्न माने गये हैं।

इवम्

इन दो अक्षरों का प्रतीकात्मक अर्थ है–

इ (शून्य) वम् (सुख)। अतः मुख्य विषय इन दो अक्षरों – इ. वम् के गर्भ में छिपा पड़ा है। "इवम्" तीन प्रकार का है–

१. फल इवम्।

२. मार्ग प्राप्ति इवम्।

३. मार्ग दर्शक चिन्ह के रूप में इवम्।

फल इवम्– त्रिभुजाकार धर्मोदय (प्रकृतियो का मूल) के अन्दर साम्याकाश बुद्ध अवस्थित है। इससे स्वयं प्रकाशित ज्ञान--प्रासाद (विमान) तथा सिंहासन उदय हुए हैं। त्रिभुजाकार धर्मोदय का प्रतीक है (इ) स्वामी (भगवान) वज्रधर अपने दरबारी देवताओं के साथ विराजमान हैं– इसका प्रतीक (वम्) है। संक्षेप में "इवम्" आवास–मण्डल का प्रतीक है।

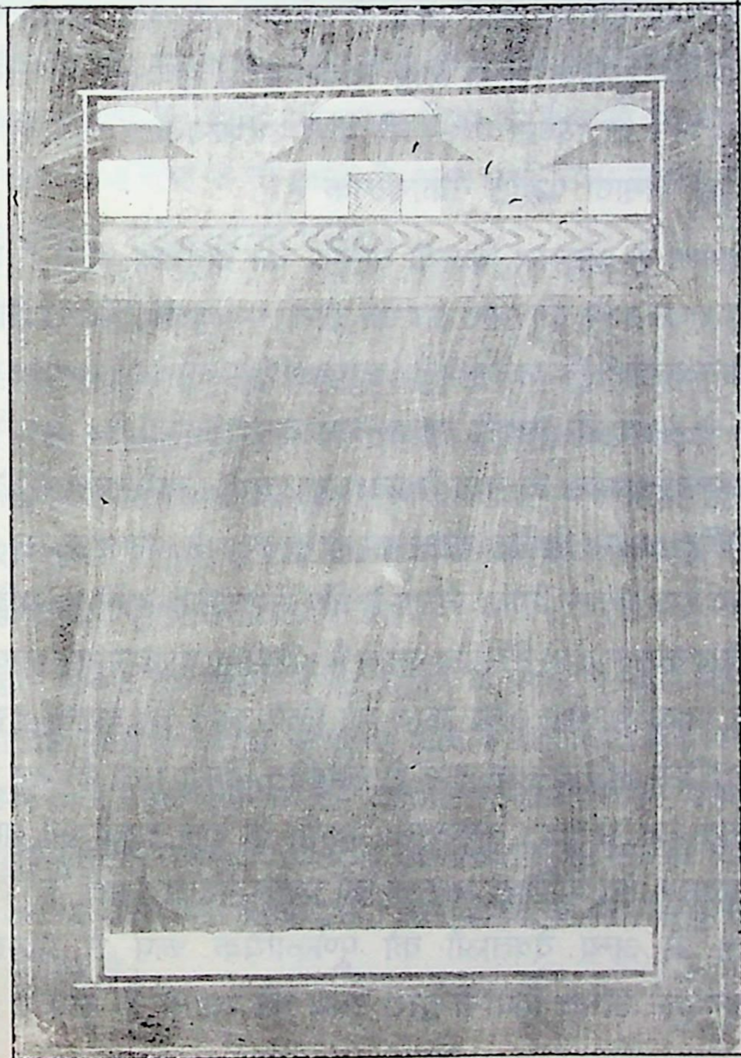
इस "इवम्" में "शून्य प्रत्यक्षीकरण", 'सुख–प्रत्यक्षीकरण' और 'सुख शून्य प्रत्यक्षीकरण' होता है।

शून्य का प्रत्यक्षीकरण

विरोचन ने "गुह्य समाज तन्त्र" में बोधिचित्त की व्याख्या की है। नागार्जुन ने "बोधिचित्त विवरण" में समालोचना करते हुए यह मत व्यक्त किया है कि मन्त्र–मार्ग द्वारा बोधिसत्व को गतिशील करना चाहिए। नागार्जुन "चित्तमात्र" दशग़न का खण्डन करते हुए कहता है कि चित्र मात्र धारा के विद्वान. शून्य की वास्तविकता को चिन्तक और चिन्तनीय वस्तु के

सम्मुख स्थित होना स्वीकार करते हैं। इसका विवेचन करते हुए आगे कहा गया है कि यह शून्यता वास्तविक धर्मउत्पत्ति से भी शून्य है।

नागार्जुन सुख–शून्य को मिश्रित नहीं करते, क्योंकि यह व्यक्तित्व शून्य है, क्योंकि व्यक्तित्व ही स्वनिर्मित, स्वउद्‌घाटित तत्व है। तात्पर्य यह है कि बोधिसत्व से परमार्थ बोधिसत्व का जन्म होता है और यह दोनों फलात्मक अवस्था में स्वामी भगवान् वज्रधर के मार्ग की श्रेणियाँ हैं जबकि दूसरी ओर शून्यता धरे वास्तविक धर्मों की उत्पत्ति ही शून्य है, फलात्मक दशा में धर्मोदय त्रिकोण के मार्ग की ओर अग्रसर करता है।



१७

भारतीय गुरुओं के अनुसार मण्डल में प्रवेश की विधि

भारतीय विचारधारा

भारतीय विचारधारा के अनुसार गुह्य समाज की पद्धति से मण्डल के पूर्णत्व की ओर अग्रसर हुआ जाय तो जीवन, मृत्यु एवं प्रकृति की अन्य वस्तुऐं जो कि शुद्धिकरण के लिए आवश्यक हैं, पृष्ठभूमि में तिरोहित हो जाती हैं। उन पर विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। इस प्रकार गुह्य समाज पद्धति नकारात्मक है।

सिद्धगणों के अनुसार विजयी मण्डल का प्रार्दुभाव स्वयं में ही किया जाता है तथा आगे की ओर अग्रसर होना पड़ता है। भेंट, प्रशस्ति तथा अमृत पान स्वयं ही किया जाता है। स्वप्रकाशित, कार्यगत अथवा गतिशील मण्डल में स्वयं ही स्वामी होना श्रेयस्कर पद्धति है। इसमें साधक विश्वासपूर्वक मण्डल के मध्य में प्रवेश करता है। मण्डल रंगों के पाउडर द्वारा निर्मित अथवा चित्रित वस्त्र का हो सकता है। मण्डल पर जल का छिड़काव इस प्रकार किया जाता है कि उसे कोई हानि न पहुँचे। जल क्रियाशील कलश द्वारा छिड़का जाता है। चित्रित मण्डल को स्पष्ट प्रकाश में टाँगा जाता है तथा अन्य कार्य पूरे किए जाते हैं। परन्तु इस पद्धति में शून्य (जिसे अकिंचन के नाम से संबोधित किया गया है) का बहिष्कार नहीं किया जा सकता। तदुपरान्त प्रकृति के चार तत्वों एवं प्रासाद को तथा साधारण एवं विशिष्ट आसनों को प्रकट किया जाता है। अक्षरों की सहायता से अन्य देवताओं को पूर्णकायिक रूप में प्रकट करके अवसरानुकूल उचित विधानों द्वारा स्वयं को स्वामी के रूप में प्रतिष्ठित

किया जाता है। इसमें अपने अहम् की प्रमुख भूमिका होती है। अहम् के बिना स्वयं को मण्डल का स्वामी बना पाना नितान्त असंभव होता है।

इसके बाद तीन स्तवों को एकत्र किया जता है, जो उसकी काया, वाणी और मस्तिष्क को आशीर्वाद प्रदान करते हैं। इसके बाद साकार ज्ञान को आकर्षित करते हुए कुलगरु की मुद्रा धारण करता है एवं पहली लौ को दूसरी लौ से पृथक करने की क्रिया में स्वयं को स्वामी से पृथक करता है। फिर मण्डल के पूर्वी द्वार पर स्थित होकर पूजा करता तथा दीक्षा प्राप्त करता है।

साकार ज्ञानियों को अपने स्थानों से मण्डल में पधारने का निमन्त्रण पहले ही दे दिया जाता है। फिर उन्हें मण्डल में प्रवेश देकर मण्डल को नीचे लाया जाता है। चूँकि साकार ज्ञानियों को पिछली सन्ध्या के समय की मण्डल में प्रविष्टि दे दी जाती है, अतः उन्हें नित्य सायंकाल प्रविष्टि देने का झंझट नहीं उठाना पड़ता।

पंचरीति समाहित्य

भारतीय विद्वान इसका समर्थन नहीं करते। इस प्रणाली में साकार प्रतीकों तथा साकार ज्ञानियों को परस्पर समाहित कर दिया जाता है। यह दो आकारों का समाहित्य हुआ। इनका मण्डल में समाहित होना तीसरा समाहित्य हुआ। तदुपरान्त इन्हें अपने मन में तथा प्रत्यक्ष मण्डल में समाहित करके पंचरीति पूर्ण मानी जाती है।

मण्डल पूर्णत्व की क्रिया में भेंट चढ़ाने के प्रवाह में पहले दिन साकार ज्ञानियों को प्रविष्टि कराई जाती है और वे वहीं रहते हैं। अगले दिनों में मण्डल के साकार ज्ञानियों को आकाश में उठाते समय, पहले मण्डल को संयुता (शून्य) मन्त्रोचार से शुद्ध किया जाता है; भले ही मण्डल रंगों का हो अथवा वस्त्र पर चित्रित हो। इस क्रिया के बाद मण्डल को नीचे उतारा जाता है।

इस क्रिया में व्यवधान उपस्थित होने का भय भी रहता है। वस्त्र पर चित्रित अथवा रंगों के पाउडर से निर्मित मण्डल की पूर्णता की क्रिया में मानसिक एकाग्रता भंग होने का कुयोग बना रहता है। इन बाधाओं को कुछ विशिष्ट क्रियाओं द्वारा दूर किया जाता है। रंगों के पाउडर द्वारा निर्मित मण्डल में पहले रंगों को मण्डल निर्माण से पूर्व पाँच कुलों के तत्व या सार में मिलाने से सभी बाधाऐं दूर हो जाती हैं।

जल दीक्षा में शिष्य को अक्षोभ्य की ऊर्जा प्रदान की जाती है, साकार ज्ञानियों को शिष्य में अर्न्तनिहित करके उन्हें वहीं रहने दिया जाता है। दीक्षा से पूर्व शिष्य के ऊपर जल के छींटे देना अत्यन्त आवश्यक है। इस क्रिया का संबंध पहले शून्य से होता है, तदुपरान्त यह सर्वशून्य में प्रतिफलित होती है।

देह-मण्डल

तिब्बती गुरुओं के अनुसार देह मण्डल की पूर्णता आकाश में अपने सामने उसी प्रकार की जाती है जिस प्रकार कि ध्यान मण्डल का पूर्णत्व प्राप्त किया जाता है इसमें स्वयं में अटूट विश्वास और निष्ठा धारण करते हुए यह माना जाता है कि उसका गुरु तथा मण्डल का स्वामी अभिन्न हैं। इसमें देह मण्डल के देवता और गुरु देह अर्थात् काया में ही अवस्थित किये जाते हैं। इस प्रकार काया मण्डल का पूर्णत्व प्राप्त किया जाता है। ऐसी कार्य प्रणाली ध्यानमण्डल के लिए तो विशेष फलदायक हो सकती है, परन्तु देह मण्डल के लिए ग्राह्य नहीं है। देह मण्डल के लिए ध्यान–मण्डल की भाँति कोरी कल्पनाओं का आधार नहीं चाहिए। देह मण्डल की पूर्णता की प्रणाली का विवेचन निम्नानुसार है–

सर्वप्रथम पंचउद्घाटित ज्ञान की सहायता से आधार 'हेरूक' तैयार किया जाता है और उसमें स्वयं का अहं स्थापित किया जाता है। वह अहं बासठ देवियों में भी समाहित होने की क्रिया सम्पन्न करता है। उसका

प्रारम्भ हृदय की चार योगनियों से होता है। शेष अठ्ठावन में भी अहं की स्थापना हो जाती है। मुख्यतः इसमें स्वयं माता–पिता के समागम के आधार रूप हेरूक का वंसत–तिलक द्वारा सम्पादन किया जाता है। इस समागम आधार को ज्ञान सम्पादित आधार के हृदय में स्थापित कर दिया जाता है। तदुपरान्त अहं मूलक शक्तियों को स्वयं से उद्घाटित करते हुए यह सोचा जा सकता है कि वह मै हूँ। इसी समय दृढ़ निश्चय तथा विश्वास के साथ यह धारणा भी की जाती है कि हेरूक के विभिन्न पक्ष तथा व्यक्तित्व वस्तुतः एक ही तत्व हैं। फिर यह मानते हुए कि "वह स्वामी के अहं को नियन्त्रित किए हुए है" स्वयं को स्वामी से उसी प्रकार पृथक् कर लेता है, जिस प्रकार कि प्रथम लौ से दूसरी लौ को पृथक किया जाता है। इसके बाद वह स्वयं को विश्वास दिलाता है अथवा स्वयं को आश्वस्त करता है कि माता–पिता के समागम की स्थिति में स्थित हेरूक उसका मूल मुख्य गुरु है। इसी स्थिति में वह गुरु से दीक्षा लेता है। तदुपरान्त देह मण्डल में प्रविष्टि पाने का अधिकारी बन जाता है।

शिष्य को दीक्षित करते समय गुरु को यह पूर्ण विश्वास होना चाहिएं कि वह देवियों की कल्पना और ध्यान करते समय हेरुक से व्यक्तिगत रूप में पूर्णतः सम्पृक्त है।

रंगों के पाउडर वाले मण्डलों की प्रविष्टि के सामन शिष्य को देह मण्डल का परिचय नहीं होता। इसमें देह के भागों का परिचय गुरु के द्वारा कराया जाता है तथा इसी में प्रासाद, विमान आदि भी उद्घाटित किए जाते हैं।

जब शिष्य को फूल चढ़ाने का निर्देश दिया जाय, उस समय शिष्य को यह दृढ़ विश्वास होना चाहिए कि वह गुरु के हृदय में अवस्थित गुरु को पुष्प अर्पित कर रहा है। कलश प्राप्ति के प्रारम्भ से ही गुरु देह से दीक्षा प्राप्त करनी होती है। इसी समय पूर्ण मण्डल से दीक्षा का भी ध्यान रखना पड़ता है। वह स्वयं को मण्डल से अलग न समझे उसे मण्डल

से भी दीक्षा साथ ही साथ लेनी पड़ेगी।

मण्डल रचना

"मण्डल" की रचना के सम्बन्ध में निम्नानुसार निर्देश दिया गया है–

"निर्माणचक्रे पद्मे चतुष्षष्टिदलं धर्मचक्रे अष्टदलं सम्भोगचक्रे षोडशदलं महासुखचक्रे द्वत्रिंशदलं चक्रसङ्ख्याक्रमेण व्यवस्थापनम्।। चत्वारः क्षणाः विचित्र विपाक विमर्द विलक्षणाश्चेति।। चत्वार्यंगनि सेवा उपसेवा साधना महासाधनाश्चेति।।चतुरार्यसत्यानि दुःख समुदय निरोध मार्गाश्चेति।। चत्वारानि तत्वानि आत्मतत्वं मन्त्रतत्वं देवता तत्वं ज्ञानतत्वं चेति।। चत्वारानन्दाः आनन्दः परमानन्दो विरमानन्दः सहजानन्दश्चेति।। चत्वारो निकायाः स्थावरी सर्वास्तिवादः संविदी महासंधीचेति।। चन्द्र-सूर्य आलि- कालिषोड्श संक्रान्तिश्चतुष्षष्टिदण्डो द्वात्रिंशन्नाडी यत्वारः पहाराः एवं सर्वे यत्वारः।।"

मंत्र पटल की व्याख्या के अनुसार

"वायव्यां दिशि पुष्करिणीं कृत्वा तमनन्तं स्थापयेत्। तस्यास्तटे मण्डलं वर्तयेत्। कृष्णरजः श्मशानांगारेण सितरजो नरास्थिचूर्णन पीतरजो हरितलक्तेन रक्तरजः श्मशानेष्टकेने हरितरजस् चौर्यपत्रनरास्थिचूर्णाभ्यां नीलरजो नरास्थि श्मशानांगारचूर्णाभ्यां रजोभिः एभिः मण्डलं वर्तयित्वा श्मशानसूत्रेण संसूत्र्य त्रयहस्तं मण्डलं त्रयाङ्गुष्ठादिकं तन्मध्येऽनन्ताक्रान्तम् हेवज्रं लिखेत्।"

१८ आवश्यक ज्ञातव्य

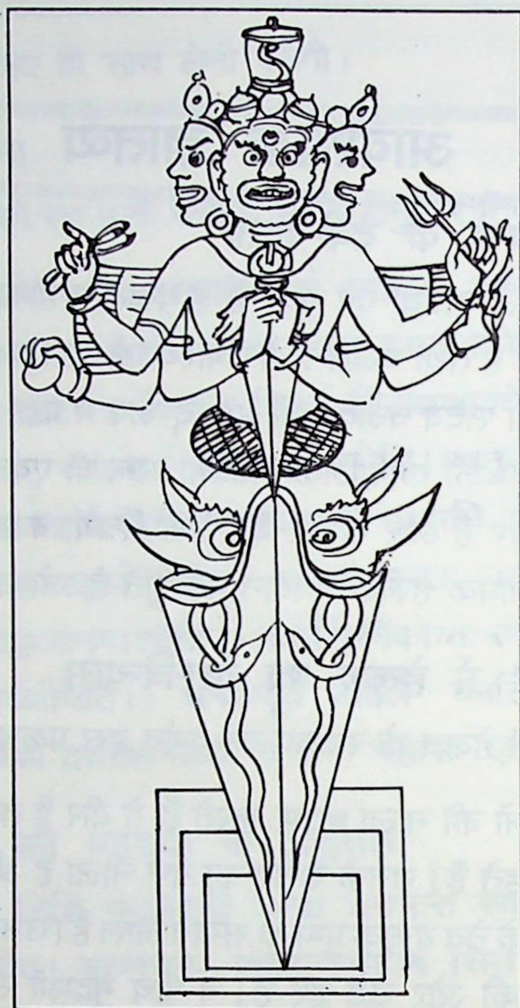
कापालिक-साधना के देवी-देवता

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, हे वज्रतन्त्र हीनयान के सम्प्रदाय के तन्त्रों में प्रमुख है तथा वज्रतन्त्र में उपास्य को 'हेरूक' के रूप में प्रवेश दिया गया है, जो सदैव वज्रवाराही भगवद् रूप मं प्रज्ञा से संम्पृक्त रहते हैं। बौद्ध–परम्परा की कापालिक–साधना सम्बन्धी एक मत के अनुसार सभी प्राणी वज्रधर हैं और संसार की सभी स्त्रियाँ कपालवनिता अर्थात् कपालिनी हैं। साधक हेरूक भगवान की मूर्ति है, जो उससे अभिन्न है।

"हे वज्रतन्त्र" में हेरूक का वेश-विन्यास

'हेवज्रतन्त्र' में हेवज्र के स्वरूप का वर्णन इस प्रकार किया गया है–

हेरूक कपालों की माला धारण करते हैं, वे वीर हैं तथा सदैव नैरात्मा से आशलिष्ट रहते हैं। उनके शरीर का वर्ण नीला है और वह अरूणाभा से युक्त है। उनके नेत्र बन्धूक पुष्प के समान लाल हैं। उनके केश पिंगलवर्ण के तथा ऊपर की ओर उठे हुए हैं। वे पाँच मुद्राओं से अलंकृत हैं। वे चक्री, कुण्डल तथा कण्ठी को धारण किये हैं तथा हाथ में सोने का आभूषण पहने हुए हैं। उनकी कटि में मेखला है और वेरव्याघ्रचर्म पहने हुए हैं। वे सोलह वर्ष के हैं तथा उनकी दृष्टि क्रोध से भरी हुई है, उनके हाथों में वज्र–कपाल, खट्वांग तथा कृष्ण वज्र हैं। वे आठ योगिनयों से घिरे रह कर श्मशान में क्रीड़ा करते रहते हैं। वे चार भुजाओं वाले हैं, उनकी पहली बाँयी भुजा में देवताओं तथा असुरों के रक्त से मरा हुआ नर–कपाल है तथा पहली दाँयी भुजा में वज्र है। शेष दोनों भुजाओं से वे प्रज्ञा भगवद् रूपिणी वज्रवाराही का आलिंगन किये हुए हैं। (साधन माला में वर्णित हेरूक के स्वरूप का उल्लेख आगे किया गया है।)



मुद्रा और महामुद्रा

मुद्रा को प्रज्ञास्वभावा कहा गया है। हेवज्रतन्त्र में मुद्रा को सुन्दर मुखवाली, विशाल नेत्रों वाली, रूपयोवन–मण्डिता, नील–कमल के समान वर्ण वाली तथा कृपावती बताया गया है। इसे वज्र–कन्या कहा गया है और इसी को ग्रहण करने के लिए वीर को उपदेश दिया गया है।

पंचमुद्राओं को कृष्ण–वरूणा, महारूद्रा, एक मुखवाली, लाल नेत्रों वाली तथा हाथ में चक्र, कर्तरी तथा कपाल और कटि में मेखला धारण करने वाली बताया गया है। इनकी कमर व्याघ्रचर्म से ढकी रहती है। ये शव

पर आरूढ़ रहती है तथा अत्यन्त तेजोमय होती है। ये दो भुजाओं वाली तथा पिंगलकेशों वाली होती है। मुद्रा को गंधद्रव्य तथा कर्पूर से संयुक्त बताया गया है। मुद्रा सभी संकल्पों से रहित तथा सुखावहा होती है। साध ाक को उसके साथ संयुक्त होकर गुरु के पास जाना चाहिए।

महामुद्रा आदिश्वर स्वभाव वाली तथा उत्पन्न क्रमियों के अनुसार भगवती प्रज्ञा है। वे न तो दीर्घ हैं और न ह्रस्व, न चौकोर हैं और न गोल। वे न काली हैं और न गोरी। वे स्वाद, गन्ध, रस से परे तथा सहज आनन्द प्रदान करने वाली हैं। वे पद्म पत्र के समान आकार वाली अथवा वर्ण वाली हैं। ये सुगन्धमयी है। उनका पसीना भी कस्तूरी के समान सुगन्ध ा से परिपूर्ण है। वे धीर, अचंचला, प्रियवादिनी, मनोरमा, सुन्दरकेशों वाली तथा त्रिवलीमध्या है। प्राकृतजल इन्हीं को पद्मिनी कहते हैं। ऐसी सहजानन्द रूपी मुद्रा को प्राप्त करके ही सिद्धि उपलब्ध होती है।

गौरी आदि पंचमुद्राओं को दो भुजाओं तथा तीन नेत्रों वाली ऊर्ध्वकेशों वाली तथा अर्धपर्यंक नाट्यस्था कहा गया है। यथार्थ में जैसा रूप भगवान् का है, वैसा ही प्रज्ञा का भी है। प्रज्ञा और उपाय शून्यता तथा करूणा के प्रतिनिधि प्रज्ञा अर्थात् वाराही एवं हेरूक हैं। इनका संयुक्त रूप 'युगनद्ध' कहा जाता है। सहजावस्था में प्रज्ञा और उपाय की अभेदता रहती है।

'साधन माला' में हेरूक का वेश-विन्यास

'साधनमाला' में हेरूक का वेश–विन्यास इस प्रकार बताया गया है– हेरूक नर–चर्म तथा कपालमाला धारण करने वाले आँतों में गुथी हुई मुण्डमाला, रक्तपरिपूर्ण कपाल तथा नरास्थि के आभूषण धारण करने वाले, प्रकाशित पूर्ण ऊर्ध्वपिंगलकेशों वाले, सम्पूर्ण शरीर पर भस्म का लेप करने वाले तथा शव के ऊपर अर्धपर्यंक आसन में स्थित रहने वाले हैं। उनका शीर्ष भाग अक्षोभ अंकित है। वे महामांस का भक्षण करते हैं तथा कर्तरी और कपाल धारण करने वाली नैरात्मा से आलिंगित रहते हैं।

वीर-साधक

वीर–साधक अस्थिमाला आदि को धारण करता है। उसे कामों में दिव्य–कुण्डल, मस्तक में चक्री, हाथों में रूचक, कटि में मेखला, पाँवों में नूपुर, बाहुमूल में केयूर तथा गर्दन में हड्डियों की माला धारण करनी चाहिये। उसे व्याघ्र चर्म पहनना चाहिये तथा पंचामृत का भक्षण करना चाहिये। ऐसे हेरूक योग के पुरूष को पंचवर्णों में विहार करना चाहिये। पाँचों वर्णों को उसे एक वर्ण मानना चाहिये। वक्ष के नीचे, श्मशान में अथवा निर्जन स्थान में से किसी भी स्थान में मुद्रा के साथ परिचर्या करनी चाहिये। श्मशान के रूप में प्रेतालय, श्मशान तथा समुद्रतट को स्वीकार किया गया है। उद्यान तथा जलाशय तट को उपश्मशान कहा गया है। श्मशान में साधक करते समय प्रेतालय में प्राप्त पुरुष के सिर को आभूषण के रुप में ग्रहण करना चाहिये।

मण्डल निर्माण में श्मशान की ईंटों तथा श्मशान के कोयलों का उपयोग करना चाहिये। द्वादशांगुल पुस्तक को भोज–पत्र पर लिखना चाहिये। इस हेतु महामधु को मसि के रूप में तथा मनुष्य की हड्डी को लेखनी के रूप में प्रयुक्त करना चाहिये। गणमण्डल में भोज की योजना श्मशान में, पर्वत की तलहटी में, खण्डहर बने नगर में अथवा निर्जन स्थान पर होनी चाहिये। वहाँ शव के रूप में व्याघ्रचर्म अथवा श्मशान के कपड़ों का आसन के रूप में प्रयोग करना चाहिये। इनके अतिरिक्त मद्य, मांस, रक्त, शव तथा मैथुन आदि के भी अनेक प्रयोग हैं। वज्र कपाल योग का साधान करते हुये जिन जन्तुओं के मास का भोजन किया जाता है वे सभी वश में हो जाते हैं। मद्य के लिए मदन, मांस के लिए बल, मिलन के लिये मलयज, गति के लिए खेट तथा आसन के लिए शव जैसे शब्दों का प्रयोग किया जाता है। मण्डल में मद्यपान, मांस तथा शालिका भक्षण किया जाता है।

हेरूक के कार्य निरूपण के प्रसंग में प्रतीकात्मक ढंग से स्पष्ट किया गया है कि उनके मांस से पुक्कुशी का, रक्त से शबरी का, शुक्र से चाण्डाली का, मेदमज्जा से डोम्बी का, चर्म से सात बुद्धांगों का तथा अस्थि से सत्यचतुष्टक का द्योतन होता है। चुम्बन, आलिंगन आदि विविध क्रियाओं के बाद मुद्रा के साथ मैथुनोचित व्यापार करने चाहिये। उद्यान में, निर्जन स्थान में अथवा अपने घर में निर्वस्त्र महामुद्रा का पूजन भी किया जाता है। किसी विशेष अभिप्राय से मैथुन का सेवन किया जाता है। मैथुन संबधित धर्म के प्रचाारकों में नागार्जुन का विशेष महत्व है।

हेरूक द्वेषकुल के देवता के रूप में प्रतिष्ठित है, क्योंकि वे अपने मुकुट के शिरोभाग में अक्षोभ को धारण करते हैं। बुद्ध कपाल साधन में हेरूक प्रज्ञा से आलिंगित तथा २२५ योगिनियों के साथ दिखाई पड़ते हैं।

शैव और बौद्ध-तान्त्रिकों में साम्य

बौद्धतन्त्र पर शैव–धर्म का पूर्ण प्रभाव है। "वीर" तथा "नाथ" ये दोनों शब्द दोनों सम्प्रदायों में पाये जाते हैं, अतः यह कहा जा सकता है कि "बौद्धों" की तान्त्रिक कापालिक साधना, शैव–वामाचारी तत्वों के सम्पर्क तथा सम्मिश्रण का फल है। उपलब्ध प्रमाणों के अनुसार बौद्धों का शैव–कापालिकों से सम्बन्ध तीसरी शताब्दी में ही हो गया था। वही सम्बन्ध कलान्तर में पुष्पित–पल्लवित होता हुआ बौद्ध धर्म में तान्त्रिक–क्रियाओं का प्रवेश–द्वार बन गया।

शैव तथा बौद्ध दोनों मतों के कापालिकों की सामान्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

१. चिता–भस्म, अस्थि–माला, कपाट–जटा आदि धारण करना।

२. महामांस, शवमांस, नर–रक्त तथा मद्य आदि का भोजन एवं पान करना।

३. मुद्रा के साथ नित्य विहार।

४. नर कपाल का पात्र के रूप में प्रयोग।

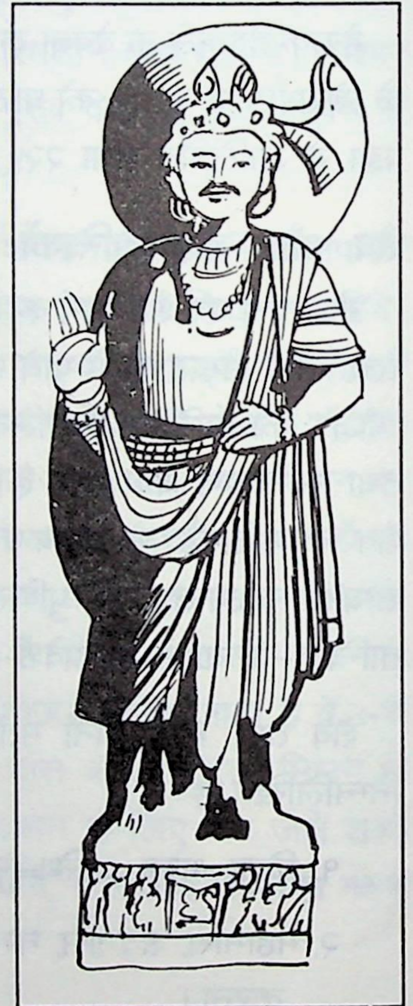
५. पंच मकारों से उपास्थ्य की पूजा।

६. श्मशान–साधन, शवासन।

७. शक्ति से नित्य परिणद्ध रूप में उपस्थि की कल्पना।

८. उद्धय–भाव

६. चक्र नाड़ी आदि का साधन



१६

व्याख्यायें

मृतक– मृतको हि निरात्मकः, निरात्म्यंच धर्मधातुः। धर्मधातुनिष्ठश्च डाक–डाकिन्यः।

x x x x x x

श्मशान–नैरात्मक देह (नैरात्कके देहे नाथः परमानन्दमयो विहरति। कथं देहः श्मशानं श्वसतीत्यमया युक्त्या श्मशानेत्यभिधीयते)

x x x x x x

जननीत्यादि–जननी हितैषिणी, भगिनी वत्सला, नटी पटुप्रचारा, रजकी शुक्लकर्मरता, वज्री नैरात्म्या प्रज्ञा, उपायों हेवज्रः।

x x x x x x

जननीत्यादि–महासुखाकारेण विश्वस्य जननाज्जननी। संवृत्ति, परमार्थ– योर्विभागकथनात् भगिनी, रजकीत्यादि, निरूतर सुखेन रंजनात् रजकी, निरुतर–बुद्धगुणानां परिपूर्णात् दुहिता, आदिकार्मिकसत्त्वैः स्थिरीकर्तुं अशक्यत्वात, नर्तकी, इन्द्रियाणां अगोचरत्वेन डोम्बीशब्देनोच्यते।

x x x x x x

मदनं– महासुखोदभवम्। अंग इति तदर्थ नरवक्षताः।

x x x x x x

दिव्योगिनी–सैव नैरात्मा सैव मण्डलचक्रं इनि सर्वनाडीमसाजरूपत्वात्!।

x x x x x x

मण्डलं– केन रजसा लेखयेद् इत्याह पंचरत्नमयैरूत्तमैः तण्डुला–दिभिर्मध्यमैः श्मशानेष्टकादिभिरधमैः। तन्मध्येति। मण्डलमध्ये नरकं नरकपालं।

x x x x x x

मातर– इति, चक्षुः श्रोत्रघ्राण जिव्हाकायमनासि। नृत्यगीतवाद्या–दिभिर्निर्भिरं पूजयेद्। तद! एवाह। यदि वा मातेत्यादि मात्रादिशब्दैः पंचेन्द्रियाणि, अभिधीयन्ते। तानि शब्दरूपरसादिभिः पंचकामगुणेः तर्पयेत् इयं एव हि तत्र स्थानं, देवीनां निरूतरा पूजेति। कथं मात्रादयः चक्षुरादय–इति चेत् तथा चोक्यं बुद्धकपाले योगिनीतन्त्रे, अथातः सम्प्रवक्ष्यामि–

अशुद्धचित्तशोधनात्, भगिनी भवेच्चक्षुर,
भागिनेयी श्रोत्रं एंवच जननी भण्यतेघ्राणम्।
रसना दुहिता तथा मनो भवेद्भार्या
षड्एता वरादिव्या महामुद्राप्रदायिका इति।।

x x x x x x

विपरीतभावना ह्येषा न ज्ञाता बुद्धतीर्थिकैः – रागेनेति लौकिकरागेण, मुच्यते सहजरागेण। विपरीतं सपक्षस्यापि विपक्षरूपत्वात्, परमार्थस्तु नैकस्य राग–मात्रस्यापि तु सर्वेषां लौकिकधर्माणां न ज्ञातेति, एवं विधा महासुखभावना न ज्ञाता न प्रतीता बुद्धतीर्थिकैः श्रावकादिभिः। कथं ते बौद्धा इति, बुद्ध शास्तारं उपगच्छन्ति, कथं तीर्थिकाः भगवच्छासनसारे वज्रयाने प्रद्वेषात्।

x x x x x x

मेदिनी– निर्माणचक्रम् दर्शयति। पश्चातचक्रं–धर्मचक्रं भृकुटी–सम्भोगचक्रं। सीमान्तं महासुखचक्रं। .... प्रेतपक्षः कृष्णपक्षः।.......... ध्वजं सालम्बनं चित्तं। शस्त्रहतं प्रज्ञा शस्त्रेण छित्वा, एकानेकस्वभावविचारणेन निःस्वभावीकरणं शस्त्रेण हननम्। .... अद्वयं इति–सर्वधर्मशून्यता सैव प्रभास्वरमयात्वाद् हेतुः कारणं आदिशब्दात् स्वभावः। शून्यतार्थिता ... कं सुखं पालयतीति नैरात्म्या शून्यकरणयोरुभयोगः समाधिः ततः।

x x x x x x

होमेत्यादि–हेवज्रादिमोक्ष एवास्य सुयोगः। तथैव दृढ़ीकरोति, बाह्यहोमादिः सर्वथा परिहर्तव्यः। कृतः यतोऽस्य हेवज्रात्मनो यत् किंचिद्

यदि गीतं गीयत आनन्दात् तर्हि वज्रान्वितं परम्।।
यद्यानन्दे समुत्पन्ने नृत्यते मोक्षहेतुना।
तर्हि वज्रपदे नाट्यं कुर्याद् योगी समाहितः।।
मन्त्रविशुद्धया स्थिता गीता नर्तना भावना स्मृता।
तस्माद् गीतञ्च नाट्यञ्चकुर्याद्योगी सदा-सदा।।
भक्षितव्यं तु भैषज्यं पातव्यं वारि नित्यतां।
जरामृत्युर्न बाधेत रक्षाभूतः सदा भवेत्।।
चौर्यकेशकृतां भृकुटी तत्र हूँभवो योजयेत्।
पंचबुद्कपालानि धर्त्तव्यं योगचर्यया।।
पञ्चांगुल कपालखण्डं (कृत्वा) भृकुट्यां ध्रियते सदा।
कचडोरी द्विवेता च प्रज्ञोपायस्वभावतः।।
भस्म केशपविभञ्चयोगी विभर्ति चर्यया।
जापो डमरूकशब्दः प्रज्ञाखट्वांगो भावना।।
जाप्यं भाव्यं भवेद् एतद् वज्रकपालचर्यया।
लोभं मोहं भयं क्रोधं बीजाकार्यं च वर्जयेत्।।
निद्रां आत्मानं उत्सृज्य चर्या कुर्यान्न संशयः।
शरीरं दानं दत्वा च पश्चाच्चर्या समारभेत्।।
भागाभाग विचारेण तस्माद् दानं न दीयते।
भक्ष्यं भोज्यं तथा पानं यथाप्राप्तं तु भक्षयेत्।।
ग्रहणं नात्र कर्तव्य इष्टानिष्ट विकल्पतः।
भक्ष्याभक्ष्य विचारन्तु पेयापेयं तथैव च।।
गम्यागम्यं तथा मन्त्री विकल्पं नैव कारयेत्।
सिद्धिलब्धोऽपि यः शिष्य सम्यग्ज्ञानावभासकः।।
अभिवन्दयति गुरु सिद्धाऽविच्या त्याज्यहेतुना।
शिक्षादीक्षाविनिर्मुक्तो लज्जाकार्यं तथैव च।।
सर्वभावस्वभावेन (वि) चरेद् योगी महाकृपः।
होमत्यागतपोऽतीता मंत्रध्यानविवर्जितः।।

समयसंवरविनिर्मुक्तश्चर्या कुरूते सुयोगवान्।।

टीका-

- अब मैं पारंगत श्रेष्ठचर्चा के विषय में बताता हूँ। जिसे सिद्धि हेतु हेवज्र में सिद्धान्त रूप में जाना जाता है। भावक को दोनों कानों में दिव्य–कुण्डल धारण करने चाहिए। सिरपर चक्री तथा दोनों हाथों में रूचक धारण करने चाहिए। कटि में मेखला, चरणों में नूपुर, बाहुमूल में बाजूबन्द एवं ग्रीवा में हड्डियों की माला धारण करे। पहनने के लिए व्याघ्रचर्म तथा भक्षण के लिए दर्शार्ध अमृत को प्रशस्त माना गया है। हेरूक–योग का पुरूष–विहार पाँच रंगों का हो। पाँच वर्णों से युक्त एक वर्ण की कल्पना करें। अनेक वर्णों का एक वर्ण से भेद लक्षित नहीं होना चाहिए।

किसी वृक्ष अथवा श्मशान में की गई भावना शुभ कही जाती है। मातृगृह अथवा निर्जन–प्रान्तर में कुछ गर्मी का अनुभव हो और चर्या करने की इच्छा हो और उस चर्या से सिद्धि प्राप्त करने की इच्छा हो, तो उसे करना चाहिए।

सुन्दर मुखवाली, विशाल नेत्रों वाली, रूप–यौवन मण्डित, नील कमल के समान श्याम अंगों वाली तथा स्वयं से अभिषिक्त कृपावती, वज्र–कुलोत्पन्न, अपने इष्टदेव के कुल से उत्पन्न अथवा अन्य कुल से उत्पन्न तथा बोधिबीज के निक्षेपण से संस्कृत ऐसी शक्ति को ग्रहण करना चाहिए।

यदि आनन्द पूर्वक गीत गाया जाय तो वह वज्रंवर्णों से युक्त होना चाहिए। यदि आनन्द मिले तो मोक्ष प्राप्ति के लिए नृत्य भी करना चाहिए। इस प्रकार योगी को वज्रपद से नाट्य करना चाहिए।

x x x x x x

मन्त्र शुद्धि में स्थित गीत–नृत्य की भावना करते हुए उद्योगी को गीत तथा नाट्य करना चाहिए। औषधि का सेवन करना तथा जल पीना चाहिए।

इससे जरा–मृत्यु का भय नहीं रहता तथा सदैव रक्षा होती है।

चौर्य केशकृत भृकुटी में "हूँ" भाव की योजना करके, योगचर्या द्वारा उसमें पंच बुद्ध कपालों को रखना चाहिए। पंच अंगुल कपाल–खण्ड करके उन्हें भृकुटी में धारण करे। कचडोरी और द्विवेता– ये प्रज्ञा के स्वाभाविक उपाय हैं। भस्म–केश से पवित्र होकर योगी चर्या करता है। डमरू का शुद्ध जाप है तथा खट्वांग की भावना प्रज्ञा है। वज्रकपाल की चर्चा से यह जाप सदैव भावना के योग्य होता है।

लोभ, मोह, भय, क्रोध एवं क्रीड़ा कार्यों को त्याग देना चाहिए तथा अपनी निद्रा को भी त्याग कर चर्या कार्य करना चाहिए– इसमें सन्देह नहीं है। शरीर का दान करने के उपरान्त ही चर्या करनी चाहिए। भाग और अभाग के विचार से दान नहीं देना चाहिए। भक्ष्य, भोग तथा पान जैसे भी प्राप्त हो, उन्हें भक्षण करे। उन्हें ग्रहण करते समय इच्छित और अनिच्छित का विचार नहीं करना चाहिए। भक्ष्य–अभक्ष्य, पेय–अपेय तथा गम्य–अगम्य का विचार साधक को नहीं करना चाहिए तथा कोई विकल्प भी नहीं तलाशना चाहिए। सम्यक ज्ञान का अभिभाषक जो शिष्य सिद्धि प्राप्त हो, उसे गुरू का अभिवादन करना चाहिए। शिक्षा–दीक्षा से विनिमुक्ति, लज्जा से युक्त, महाकृपा शील योगी को सर्वभाव से स्वाभाविक आचरण करना चाहिए। होमती का जानकार, भूत कालिक मन्त्र ध्यान से रहित, समय संवत् से विनिर्युक्त, सुयोगवान् साधक इस प्रकार चर्या करता है।

****

२३

डोम्बी तथा चाण्डाली साधना

दर्शन, साधना तथा आचार का अभिन्न सम्बन्ध है। किसी लक्ष्य अथवा फल की प्राप्ति हेतु किया गया कार्य साधन कहलाता है, उसी तत्व के संधान हेतु जिस क्रिया का अवलम्ब लिया जाता है वह साधना है तथा सिद्धि के लिए जिन पद्धतियों का अनुपालन किया जाता है उन्हें आचार कहते हैं। तान्त्रिक साधना में आचार का विभाजन दक्षिणाचार्य तथा वामाचार्य में मिलता है।

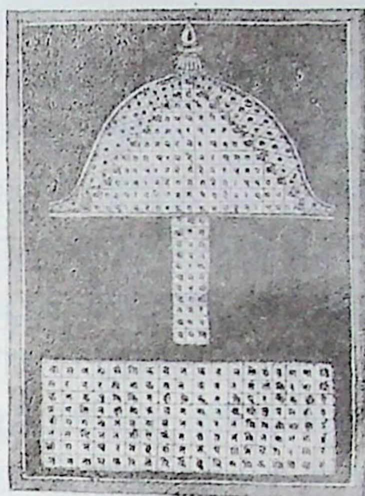
वज्रयान में अवधूति मार्ग तथा राजमार्ग अत्यधिक प्रचलित है, अवधूति मार्ग में नलना (इड़ानाड़ी, वाममार्ग) तथा रसना (पिंगड़ानाड़ी, दक्षिणमार्ग) के एकाकार करने की पद्धति का उल्लेख भी होता है। ललना अर्थात् इड़ानाड़ी या चन्द्रनाड़ी और रसना पिंगलानाड़ी या सूर्यनाड़ी जब तक एकाकार होकर नाभि में स्थित रहती है, तब तक वे अविशुद्ध रूप में कही जाती है। इस एकाकार को भी चाण्डाली का नाम दिया गया है। नाभि से सुषुम्ना में विशुद्ध रूप से बहने का नाम डोम्बी (बंगाली) है। इस साधना का आश्रय लेकर साधक अभीष्ट सिद्धियों को प्राप्त करता है तथा अन्तिम समय में रागाग्नि के पूर्ण समाप्त हो जाने पर निर्वाण प्राप्त कर लेता है। इसे वज्रयान विरमानन्द का नाम देते है।

कापालिक–योगि घण्टा, नुपूर, कुण्डल तथा अस्थिमाला आदि चिन्हों को धारणा करते हैं। वे मद्यपान करते है तथा डोम्बी (डोमिन) के साथ विवाह करके उसके साथ रति–क्रिया में प्रवृत्त हो विलास करते हैं एवं नृत्य–गीत–वाद्य आदि का समायोजन भी करते हैं।

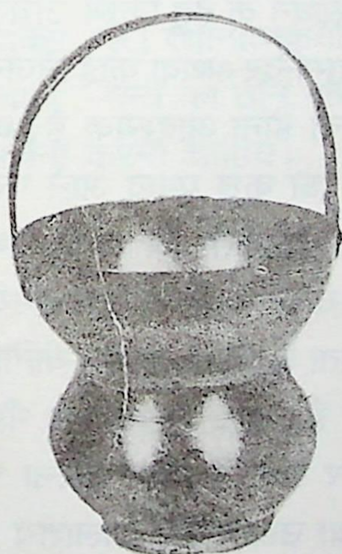
कृष्णपाद में अपने दोहाकोष में अपनी ग्रहणी अर्थात् दिव्य–मुद्रा को लेकर मन–रतन को निश्चर करने की बात भी कही है। वे ऐसा करने वाले व्यक्ति को भी वज्रधर्मनाथ मानते हैं।

****





garland of letters, as a yoni-shaped rosary. Rajasthan, 18th century. Gouache on paper 11 × 8 (28 × 20). *Right*, the letters of the Sanskrit alphabet, for meditation and worship, as the sound-root of all divine knowledge. Rajasthan, 19th century. Ink and gouache on paper 11 × 9 (28 × 23)



Ceremonial water-pot. Rajasthan, 19th century. Brass h. 11 (28)



Holy-water container in the shape of the yoni. Bengal, 18th century. Copper l. 12 (30)

२४

हेवज्र साधन

हेवज्र के 'हे' का अर्थ–महाकरूणा तथा 'वज्र' का अर्थ–प्रज्ञा है। प्रज्ञा के कई रूप हैं– १. जननी (हितैषिनी), २. भगिनी (वत्सला), ३. नटी (पटुप्रचारा), ४. रजकी (शुक्ल कर्मरता), ५. वज्री (ध्यानप्रेया), ६. चाण्डाली (निहतमान के कारण क्षमाशीला) एवं ७. ब्राह्मणी (अनवद्धकमरता) मुद्राओं की आध्यात्मिक व्याख्याओं में इनकी संख्या छः बताई गई हैं।, जिनमें–भगिनी, शरीरस्थनेत्र है, भागिनेयी कान है, जननी नासिका है, दुहिता रसना है तथा भार्या मन है। नैरात्मा तथा हेरूक की एकता को ही सुरत के रूप में स्वीकार किया गया है।

हेवज्र तन्त्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि साधक को विभिन्न कापालिक आभूषणों को धारण करके पंचामृत का सेवन करना चाहिए। उसे पंचकुलों को एक मानना चाहिये। साधन के हेतु किसी उचित स्थान का चयन करें, जो वृक्ष नीचे, श्मशान, मातृमन्दिर अथवा कोई निर्जन स्थान हो सकता है। साधना–स्थल का एकान्त होना आवश्यक है। ध्यान के लिए रात्रि का समय उचित है। ध्यान का कुछ प्रभाव आने पर किसी सोलह–वर्षीया वज्रकुल कन्या के साथ वज्रगीतों का गायन तथा नृत्य करते हुए हेवज्र स्थान में पहुँच कर नृत्य करना चाहिये। उस समय गायन ही मन्त्र होता है तथा नृत्य ही ध्यान होता है। हेवज्र अष्ट–योगिनियों से आवृत्त होकर श्मशान में क्रीड़ा करते हैं। अतः साधक को भी अपनी वज्रकन्या के साथ श्मशान में पहुँचकर चर्या में प्रवेश करना चाहिये। समुद्रतट तथा प्रेतालय को श्मशान तथा उद्यान और जलाशय तट को उप्र–श्मशान माना गया है। साधक को मृतक की भस्म में आभूषण के

रूप में धारण करना चाहिये तथा श्मशान में प्राप्त पुष्प को अपने कैशों में बाँधना चाहिये। मण्डल निर्माण में श्मशान की ईंटों तथा अंगारों का प्रयोग करना चाहिये। श्मशान में भोजन, मद्यपान तथा मांस भक्षण करना चाहिये और शव रूपी आसन की रचना कर श्मशान के कपड़े का प्रयोग करते हुये मैथुन में प्रवृत्त होना चाहिये।

हेवज्र तन्त्र के अनुसार– मदन मद्य है, मांस बल है, मलय मिलन है, खेट गति है, शव आश्रय है, अस्थि आभरण है, निरंकुश अर्थात् नग्न हैं, प्ररूण अगति है, कपीट का अर्थ डमरूक है, दुंदुर का अर्थ–अभाव्य है, कालिंजर का अर्थ भव्य, डिमडिम का स्पर्श, कपाल का पद्मभाजन, भक्षि का तृप्तिंकर, मालती धन का अर्थ–व्यन्जन और चतुष्म का गोबर है। मूत्र का अर्थ कस्तूरी, सिल्हक का रक्त तथा कर्पूर का शुक्र है, शाजिल का अर्थ नर–मांस और कुन्दुर का अर्थ दो इन्द्रियों का योग है। बोल का अर्थ वज्र (पुरुष शक्ति का) तथा कवकोल का अर्थ पद्म (स्त्री–शक्ति का) प्रतीक है।

देवी–देवताओं की साधना के लिए किसी सुन्दर स्थान में शिखासंन पर बैठकर करें। स्थानात्मकयोग की रक्षा के लिए–"ओं रक्ष रक्ष हुँ हुँ हुँ पट् स्वाहा"–मन्त्र का तीन बार उच्चारण करके पदादिगत भगवन् मूर्ति की अर्चना करनी चाहिये।

****

२५

बुद्ध कपाल साधन

ध्यानी–बुद्धों के कुलों के बोधिसत्व सुनिश्चित है तथा उनकी शक्तियां भी निश्चित हैं, जिनके माध्यम से उनके कुलों का विकास होता है। द्वेषकुल के 'हेरूक' नामक देवता का एक रूप 'बुद्ध कपाल' है। जब हेरूक चित्र सेना नामक शक्ति से संयुक्त होते हैं तब उनका नाम 'बुद्ध कपाल' होता है। ये एक मुख तथा चार भुजाओं वाले बताये गये हैं। और अपने हाथों में खट्वांग, कपाल, कर्तरी तथा डमरू धारण करते हैं। इनके साधन में मंत्र साधक को सर्वप्रथम मनोनुकूल भूभाग में जाकर अमृतों से उसका लेपन कर उसकी साधनानुकूल रचना करनी पड़ती है। इसके बाद वहाँ स्थित होकर अनेक प्रकार से ध्यान करते हुए स्वभाव शुद्धि आदि मंत्रों का उच्चारण कर निस्तरंग सूर्याक्रान्त अष्टदल पद्धति की भावना की जाती है। सूर्य के अक्षरद्वग का न्यास किया जाता है। हुँकार के साथ स्वयं को प्रज्ञालिंगित एवं पच्चीस योगिनियों से परिवेष्टित हेरूक समझते हुए साधन किया जाता है। गीताच्चारण के बाद युगनद्धात्मक बुद्ध कपाल का ध्यान किया जाता है। ध्यान का स्वरूप इस प्रकार है– बुद्ध कपाल महावीर, घोर संहार कारी, नीलवर्ण, विशालवपु, अस्थियों के आभूषण धारण करने वाले, अर्धपर्यंकावस्था में नृत्यरत, मुण्डमाला से विभूषित, मुकुट में अक्षोभ्य को धारण करने वाले, एकमुख तथा चार भुजाओं वाले अपने बाँये हाथों में खट्वांग तथा कपाल धारण करने वाले, दाँये हाथों में कर्तरी और डमरू धारण करने वाले एवं प्रज्ञा से आलिंगित हैं। उनके वामभाग में स्थित, उनकी शक्ति, चित्रसेना उन्हें आलंगित किये हुए है। वह मद्यमत्त, नग्न तथा मुक्त केशों वाली है और देवता का बार–बार चुम्बन कर रही

हैं। ऐसे बुद्ध कपाल की भाँति ही स्वयं का ध्यान करते हुए मन्त्री को साधन करना चाहिये।

इस साधन में मण्डल का विवरण निम्नानुसार है-

विभिन्न दिशाओं में (चौबीस योगनियां) साधन में (पच्चीस योगनियां) उन्हें घेरे हुए हैं। इसके साथ ही मण्डल के चार द्वारों पर चार द्वारपालिनी प्रतिष्ठित हैं। ये सभी देवियां एक मुख वाली, नीलवर्णवाली, अँस्थियों के आभूषण धारण करने वाली, तथा पिंगलवर्ण ऊर्ध्वकेशों वाली हैं। ये सभी अपने बाँये हाथ में करतरी तथा दाँये हाथ में कपाल धारण करती हैं।

उक्त विधि से ध्यान करने के पश्चात् निम्नलिखित मन्त्र का जप करना चाहिये–

"ॐ महावज्रो हेरूकवज्रो धरतु धरतु महाज्ञनस्पैटने शीघ्रं साधय स्तम्भय कीलय हुँ फट् स्वाहा"।

वज्र कपाल साधन की सरहपाद रचित विधि तथा साधनमाला में वर्णित भगवती बुद्ध कपाल की साधन विधि का उल्लेख आगे किया गया है।

****



The sexual posture Cakra Āsana, the twist in which affects the pattern of energies in the spinal column. Nepal, 18th century. Gouache on cloth 15×9 (38×23)

२६

भगवती बुद्ध कपाल साधन

{'साधनमाला' में भगवती बुद्ध कपाल की साधन विधि का जो उल्लेख किया गया है उसका मूलपाठ नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है}

।। नमः श्री बुद्धकपालाय।।

प्रथमं तावन्मन्त्री मनोऽनुकूले भूभागे गत्वा द्वादशार्धामृतेनोपलिप्य कल्पेयत्। स्वाधिष्ठाने प्रथमं ध्यात्वा भूतभौतिकं स्फारयेत्। स्वहृदये हुताशनमक्षरं ध्यात्वा सूर्यमण्डलं कल्पेयत् ॐकारेण चन्द्रमण्डलं द्वयोरेकीभूय सूर्यमण्डलं परं दृश्यते। तस्योंपरि हुंकारं विचिन्त्य रश्मिघांश्च स्फारयेद् बुधः। तेन रश्मिना गुरुबुद्धबोधिसत्वानकृष्य पुरतः संस्थाप्याचर्चायेत्। पश्चात् क्षमापयेत्। स्वभावशुद्धादिमन्त्रमुच्चार्य निस्तरंग विभावयेत् पद्माष्टदलं सूर्याक्रान्तम्। सूर्यस्यापरि न्यस्येत् अक्षरद्वयम। हुंकारेण प्रज्ञालिंगितहेरूकं झटित्याकारयोगेनात्मानं विचिन्त्य पंच विंशतियोगिनीभिः सह एवं दृश्यते। हेरूकनाथेन कामयेत् सर्व्वयोगिन्यः। सर्व्वेतेद्रवीभूय सूर्यमण्डलसमवस्थितं दृष्टवा देवी चोदयन् चतुर्योगिन्योऽभ्यन्तरसाधने—

किच्चे णिच्चअ विसाअगउ लोउ णिमन्तिअ काईं।
तह क्ता ण जइ सम्भरसि उट्ठहिँ सअल विसाईं।।
केज्ज अप्पाण विकरिअ पिअ मा करसु विण्णविचिन्त।
भवभअ पडिआ सअल जणु उट्ठहि जोइनिम्ति।।
पूव्वपइज्जइ सम्भरिस मा कर कज्ज विसाउ।
तइ अथमिन्ने सअल जणु परिअवज्ज गउसाउ।
मिछें माण विमा करहि पिअ(उ)ट्ठइ सुण्णसहाव।
कामहि जोइणि विन्द तुहु फिट्टअ अहवा भाव।

ईदृशेन गीतेने चतुयोगिस्यश्चोदयन्त्यः पूर्व्ववद! रक्त वर्णचिन्हाद्ययोगिन्या सह। ततः—

उत्थितोऽसौ महावीरो घोरसंहारकारकः

नीलवर्णौ महवपुः अस्थ्याभरणमर्द्ध पर्यंकनाट्यस्थ मुण्डमाला विभूषितं मुकुटे अक्षोभ्यधारिणं एकवक्त्रं चतुर्भुजं वामे खट्वांगकपालं दक्षिणे कर्त्रिडमरूकं प्रज्ञालिगिंत वामे चित्रसेना मता नग्ना मुक्तकेशी सर्व्वभयरहिता देवी चुम्बयन्ती मुहुर्म्मुहुः। एवं आत्मानं ध्यात्वा स्फारयेद् योगिनीनां महर्द्धिका दिशासु विदिशासु च।

प्रथमाभ्यन्तरपुटे पूर्व्वेदेवी सुमालिनी नीला उत्तरे कपालिनी पीता पश्चिमें भीमा श्यामा दक्षिणे, दुर्ज्जया शुक्ला; द्वितीय पुटे पूर्व्वे शुभ्रमेखला उत्तरे रूपिणी पश्चिमें विद्या दक्षिणे कौबेरी ऐशान्यां कामिनी वायव्यां महोदधिः नैर्ऋत्यां कारिणी आग्नेयां मारिणी; तृतीयपुटे पूर्व्वे भीमदर्शना उत्तरे अजया पश्चिमे शुभा दक्षिणे ओस्तारिकी ऐशान्यां सुरक्षिणी वायव्यां विकालरात्री नैर्ऋत्यां माहयशा आग्नेय्यां सुन्दरी। कायवाक्चित्तविशुद्धितस्त्रयः पुटलक्षणाः चत्वारि द्वारपालिनीनां नामानि कथयामि, पूर्व्वद्वारे सुन्दरा उत्तरे सुभगा पश्चिमें प्रियदर्शना दक्षिण्से नैरात्म्या। सर्व्वा देव्यो नीलवर्णा द्विभुजा एकवक्त्रा अस्थ्याभरणाः पिंगोर्द्धवकेशां कुण्डमालासहिता वामे कपालं दक्षिणे कर्त्रिका अर्द्धपर्यंकनृत्यस्थाः। आसां पंचविंशतिसूर्यासनानि द्रष्टव्यानि। मण्डलचक्रं तु भावयेत्—

चतुरसं चतुर्द्वारं चतुस्त्रेरणभूषितम!।
अष्टस्तम्मापशोभितं वेदिकापट्टिकायुतम्।।

बाह्यतोऽष्ट श्मशानानि कल्पयेत्। खिन्ने सति मन्त्रं जपेत्—

"ॐ महावज्रो हेरूकवज्रो धरतु **महाज्ञानस्फेट ने शीघ्रं साधय स्तम्भय कीलय हुँ फट् स्वाहा**"।

उत्पत्तिक्रमं कथितं उत्पन्नं गुरुगोचरम!।
भूतभोप्तिकसंवंर योगिनीनां प्रकल्पितम्।।
अद्वययोगज्ञानुं तु प्रज्ञालिंगितहेरूकम्।
क्लेशानां वशीकारार्थं यावन्मुद्रः प्रकल्पितः।।
धीरो विनीतो मतिमान् सव्वर्यकुशलवर्जितः।।
शुचिश्च गुरुभक्तश्च बुद्धकपालयोगतः।
सिध्यन्ति षण्मासेनैव योगिनौ नात्र संशयः।।
ॐ इति भगवती बुद्ध कपालस्य साधनम्।

टीका—श्रीवृद्व कपालाय नमः। सर्वप्रथम मन्त्र साधक अनुकूल भूँ—भाग में जाकर ६ प्रकार के अमृत द्वारा भूमि को लीपने की कल्पना करें। फिर पहले स्वाधिष्ठान चक्र में ध्यान करके भूत भौतिक को स्थापित करें। अपने हृदय में अग्नि—अक्षर का ध्यान करके सूर्यमण्डल की कल्पना करें तथा ओंकार से चन्द्रमण्डल की। फिर दोनों को एकत्र कर सूर्यमण्डल पर देखें। उसके ऊपर हुंकार का चिन्तन करके रश्मि मेघों को स्फारित करें। बुद्धिमान शिष्य इस रश्मि से गुरु के द्वारा निर्देशित ज्ञान सत्वों को आकर्षित करके, अग्रभाग में स्थापित करने के बाद क्षमा—याचना करें। स्वभाव शुद्धादि मन्त्रों का उच्चारण करके तरंग – रहित पद्माष्ट दल में सूर्याक्रान्त की विभावना करें। सूर्य के ऊपर अक्षर द्वय की स्थापना करें। हुंकार द्वारा प्रज्ञालिंगित हेरूक को झटक कर, योगात्मा द्वारा पच्चीस योगिनियों के साथ देखें। हेरूक का सभी योगिनियों के साथ चिन्तन करें तथा उन सबको सूर्य मण्डल में उपस्थित देखते हुए, चार योगिनियों के आन्तरिक साधन में प्रवृत्त हों।

"किच्चे गिच्चअ विसाअगउ लोउ णिमन्तिअकाई।
तह वत्ताण जइ सम्भरसि उट्ठहिं सजल विसाई।।
कज्ज अप्पाण विकरिअ पिअ मा करसु विण्णविचिन्त।
भ्वम पडिआ सजल जणु उठ्ठहि जोइ निम्त्ति।।

पूव्वपइज्जइ सम्भरिस मा कर कज्ज विसाउ।
तइ अथभिन्ने असल जणु परिअवज्ज गडसाउ।।
मिछें माण विमा करहि पिअ(उ) टठई सुण्णसहाव।
कामहि जोइणि विन्द तुहु फिट्टउ अहवा भाव।।

ऐसे गीत से चारों योगिनियों को प्रेरित करते हुए पूर्बवत् रक्तवर्ण चिन्हों वाली योगिनियों को प्रसन्न करें। फिर–

"अस्थितोऽ सौ माहवीरो घोर संहारकारकः।।"

इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए नीलवर्ण, महावपु अस्थ्याभरणयुक्त, अर्द्धपर्यकं नाट्यस्थ। मुण्डमाला विभूषित, मुकुट, अक्षोभ्यधारी, एकमुख, चार भुजाओं वाले, बांई भुजाओं में खट्वांग और कपाल तथ दांई भुजाओं में कर्तरी और डमरूक धारण किए, प्रज्ञालिंगित बांई और चित्रसेना नामक नग्ना, मुक्तकेशी, सर्वभयरहिता देवी का बारम्बार चुम्बन लेते हुए हेरूक का ध्यान करें। इस प्रकार हेरूक का ध्यान करते हुए योगिनियों का दिशा–विदिशाओं में ध्यान करना चाहिए।

पहले अभयन्तरपुट में पूर्व की ओर देवी सुमालिनी, नीलवर्ण की उत्तर में कपालिनी पीत वर्ण की, पश्चिम में भीमा श्याम वर्ण की तथा दक्षिण में दुर्ज्जया शुक्लवर्ण की, का ध्यान करें। दूसरे पुट में पूर्व में शुभ्रमेखला, उत्तर में रूपिणी, पश्चिम में विद्या, दक्षिण में कोबेरी, ईशान में कामिनी, वायव्य में महोदधि, नैर्ऋत्य में कारिणी तथा आग्नेय में मारिणी का ध्यान करें। तीसरे पुट में भीम–दर्शना, उत्तर में अजया, पश्चिम में शुभा, दक्षिण में ओस्तारिकी, ईशान में सुरक्षिणी, वायव्य में विकालरात्रि, नैर्ऋत्य में महायशा तथा आग्नेय में सुन्दरी का ध्यान करें।

अब काया, वाणी तथा चित्त की विशुद्धि सहित तीन पुट के लक्षणों वाली चार द्वारपालिनी के नामों को कहता हूँ। पूर्वद्वारा में सुन्दरा, उत्तर में सुभगा, पश्चिम में प्रियदर्शना तथा दक्षिण में नैरात्म्या स्थित हैं। सभी देवियाँ नीलवर्ण, दो भुजाओं तथा एक मुख वाली, हड्डियों के आभूषण

धारण करने वाली पिंगलवर्ण ऊर्ध्व केशों वाली तथा मुण्डमाला युक्त हैं। अपने बाँये हाथ में कपाल तथा दाँयें हाथ में कैंची लिये अर्द्धपर्यंक नृत्यस्था हैं। इन पच्चीसों को सूर्यासन पर देखते हुए मण्डल चक्र की निम्नांनुसार भावना करनी चाहिए।

मूल के श्लोकानुसार

"वह चौकोर, चार द्वार, चार तोरणों से विभूषित आठ स्तंभों से शोभित तथा वेदिका पट्टिका युक्त है।" फिर बाहर आठ श्मशानों की कल्पना करें तथा खिन्न होकर निम्नलिखित मन्त्र का जप करें–

"ॐ महावज्रो हेरूकवज्रो धरतु धारतु महाज्ञानस्पेटने शीघ्र साधय सम्भय कीलम हुँ फट् स्वाहा"।

यह उत्पत्ति क्रम कहा गया है। यह गुरु के द्वारा ही बताया जाता है। यह भूत भौतिक संवर योगिनियों द्वारा प्रफुल्लित है। अद्वय योग ज्ञान तथा प्रज्ञालिगिंत हेरूक से युक्त है। क्लेशों के वशीकरण हेतु जो मुद्राएँ प्रकल्पित हैं, उन्हें धीर, विनीत, बुद्धिमान् तथा सब प्रकार की अंकुशल से रहित, पवित्र गुरुभक्त साधक बुद्धकपाल के योग से छः महीने के भीतर सभी योगिनियों सहित सिद्ध कर लेता है– इसमें संदेह नहीं है।

****

२७

सरहपाद रचित बुद्ध कपाल साधन

सरहपाद रचित बुद्ध कपाल साधन की विधि निम्नानुसार है–

सर्वप्रथम साधक सुखासन पर बैठकर अपने हृदय में स्वर के प्रथम अक्षर द्वारा उत्पन्न चन्द्रमण्डल की स्थापना करे। फिर, उसके ऊपर हुँ अक्षर का पंच प्रभा से युक्त पंच–तथागतों के स्वभाव का ध्यान करें। तदुपरान्त "हुँकार" से उत्पन्न प्रभा द्वारा कालदन्ता पूजक देवियों को उत्पन्न करके "सुमालिनी" आदि चौबीस योगिनियों से घिरे हुए तथा "चित्रसेना" से आलिंगित "हेरूक" की पंचामृत द्वारा पूजा करें।

षौडषोपचार विधि से पूजन करने के उपरान्त त्रिरत्न आदि का स्मरण कर, पापादेशना अर्थात् "पापों की क्षमायाचना" आदि कृत्य करने चाहिए। इसमें पहले मैत्री–भावना, फिर करूणा की भावना, फिर सर्वानन्द की भावना और तत्पश्चात् उपेक्षा की भावना करनी चाहिए।

इसके पश्चात् अपने हृदय में सूर्य में स्थित "हुँकार" का चिन्तन करें। फिर नीचे के वायु मण्डल द्वारा जलाये जाने के कारण "हुँ" से प्रभास्वर होने पर सम्पूर्ण देह को उसमें सम्यक् रूप से दग्ध करते हुए उसकी सर्वशून्यता में ही भावना करें। तदुपरान्त 'रं' अक्षर से परिणत सूर्य के ऊपर "हुँ" अक्षर के परिणत होने से उसका परिणमन "विश्ववज्र" में होता है।

"विश्ववज्र" के मध्य में भी "हुँ" का ही चिन्तन करना चाहिए। इससे "कालवज्र" से प्रकाशित होने पर उसका प्राकार (परकोटा) बनायें तथा जाल से सीमा बन्द करें। वज्र का परिणमन होने पर विश्ववज्र की आधार–भूमि का चिन्तन करना उचित है। वज्र की आधार–भूमि के

मध्य में बैठकर एक त्रिकोण के रूप में धर्मधातु की भावना करनी चाहिए, तदुपरान्त उसके मध्य में चार महाभूतों का मनन करना चाहिए।

"यं" का परिणमन होने पर वायुमण्डल का, धनुष के आकार जैसी दो पताकाओं से विभूषित रूप में मनन करें। नाड़ियों के कम्पन से सभी रूपवान् चक्रों के लीन हो जाने के मध्य में योगी को स्थित होना चाहिए। इससे वायु शुद्ध होती है।

"रं" के परिणमन से सात ज्वालाओं सहित त्रिकोणात्मक रक्तवर्ण अग्निमण्डल का, अठारह नाड़ियों के स्थान से मुदित होकर देखते हुए मनन करना चाहिए।

"वं" के परिणमन से श्वेत रंग के वृत्ताकार जनमण्डल का कुम्भ से सुशोभित रूप में मनन करें तथा मण्डल में लीन होते हुए नाड़ियों के सम्पूर्ण चक्र—जाल का मनन करना चाहिए।

"लं" का परिणमन होने से पीतरंग के चतुष्कोणात्मक पृथ्वी—मण्डल का वज्र से सुशोभित रूप में मनन करना चाहिए। इसी प्रकार चार अक्षरों से अधिष्ठित चार महाभूतों के मण्डल की भावना करनी चाहिए।

फिर, चार महाभूतों का परिणमन हो जाने से चार द्वारों, चार तोरणों एवं हारार्द्धद्वार से, नूपुरों के जाल से विभूषित तथा आठ स्तम्भों से युक्त चतुष्कोणात्मक गृह का चिन्तन करना चाहिए। चिन्तन के समय यह भी मनन करें कि उसके मध्य में अष्टदल पद्म सुशोभित है। इसके मध्य में धर्मधातु के स्वभाव के शव का मनन करें। उस पर अकारादि षोड्षवर्णों से दो बार आवेष्टित बत्तीस वर्णों के परिणमन से चन्द्र—मण्डल की भावना करनी चाहिए। उस पर "क" आदि चौतीस में य,र,ल,व,ड,ढ,—इन छः का योग होने से चालीस वर्ण हो जाते हैं। इन्हें भी दूना करने से अस्सी वर्णों के परिणमन से सूर्य मण्डल की भावना करें यह समता—ज्ञान का स्वभाव है। इसके मध्य में प्रज्ञोपाधात्मक "हुँ" अक्षर का मनन करना चाहिए। यह

प्रत्यवेक्षण ज्ञान का स्वाभाव है। फिर "हुँ" का परिणमन होने पर वज्र की नाभि में भी "हुँ" का मनन करना चाहिए। यह काम सिद्धि ज्ञान का स्वभाव है। इन सबका परिणमन होने पर चित्रसेना द्वारा आलिंगत बुद्धकपाल 'हेरूक' की भावना करें।

श्वेत कुन्द तथा इन्दु के समान प्रभास्वर तथा चन्द्रमा के समान उज्जवल, मणि के समान प्रकाशित एक मुख तथा चार भुजाओं वाले 'हेरूक' की भावना करें, जो अपने दाँये हाथों में कैंची और कपाल तथा बाँयें हाथों में खट्वांग और वज्र को लिये हुए हैं। इनकी शक्ति 'चित्रसेना' की एकमुखी, दो भुजाओं वाली, मुक्त–केशों वाली, हेरूक को आलिंगित करती हुई, नग्न, मुण्डमाला रहिता, यज्ञोपवीत धारिणी, सब सुखों का बोध ा कराने वाली, सुन्दर स्वरूप वाली, दाँये हाथ में डमरूक (चंगतिउ) एवं कैंची तथा बाँये हाथ में खट्वांग लटकायें तथा कपाल धारण किये भगवत् रूपिणी के रूप में भावना करनी चाहिए।

पूर्व के पद्मदल पर "सुमालिनी" श्वेतवर्ण वाली; उत्तर के पद्म दल पर "कामिनी" पीत वर्ण वाली; पश्चिम के पद्मदल पर "भैरवी" रक्त वर्ण वाली तथा दक्षिण के पद्मदल पर "दुर्गा" कृष्ण वर्ण वाली हैं– ये सभी सूर्य पर अर्धपर्यक नाट्यस्था हैं। इनका एक मुखी, दो भुजाओं वाली तथा कर्तरी कपाल धारिणी के रूप में मनन करना चाहिए।

दिक्कोणों के चार पद्मदलों पर अमृत से परिपूर्ण चार कपालों की भावना करनी चाहिए। मध्य पद्मदल 'वज्रमाला' से अलंकृत है तथा द्वितीय पुट के आठों अरे पद्ममाला से अलंकृत हैं। उसके पूर्व वाले अर पर 'कुशल मेखला'; उत्तर वाले अर पर 'रूपणी'; पश्चिम वाले अर पर 'विजयिनी' तथा दक्षिण वाले अर पर 'कारिणी' स्थित हैं। ईशान वाले अर पर 'कपालिनी' आग्नेय वाले अर पर 'महाआयुधि'; नैर्ऋत्य वाले अर पर 'तंत्रिणी

तथा वायव्य वाले अर पर 'मारिणी' स्थित है। यह सभी योगिनियां रक्त वर्ण, सूर्यासन पर स्थित, एकमुखी, दो भुजाओं वाली, अर्द्धपर्यंक नाट्यस्था तथा कर्तृरी कपालधारिणी है।

तृतीय पुट के आठों अर 'वज्र माला' से अलंकृत हैं। उसके पूर्वी अर पर 'तारिणी'; उत्तरी अर पर 'भैरवी' पश्चिमी अर पर 'ललामा', दक्षिणी अर पर 'अजया'; ईशान अर पर 'शुभा', आग्नेय अर पर 'जुजेमा'; नैर्ऋत्य अर पर 'कालिगंगी' तथा वायव्य अर पर 'महायशा' हैं। यह सभी योगिनियां सूर्यासनस्था, श्वेतवर्ण वाली, एक मुखी, दो भुजाओं वाली तथा कपालधारिणी है।

पूर्वी द्वार पर श्वेत वर्ण वाली–सुन्दरी'; उत्तरी द्वार पर पीतवर्ण वाली 'वसुधारिणी'; पश्चिमी द्वारा पर रक्तवर्ण वाली 'सुभगा' तथा दक्षिणी द्वार पर कृष्णवर्ण वाली 'यशोदर्शना' हैं। यह सभी योगिनियां शव तथा सूर्य पर स्थित हैं। ये मैत्री आदि स्वभाव वाली, बाँये पाँव को फैलायें हुए नाट्यस्या, एक मुखी, दो भुजाओं वाली तथा कर्तृरी और कपाल धारिणी हैं। तथा सदैव हेरूक की ओर देखती हैं।

द्वारपालिकाओं के अतिरिक्त योगिनियों की अर्द्धपर्यंक नाट्यास्था व्यार्घचर्म को कटि पर धारण करने वाली, हड्डियों के आभूषण पहिनने वाली, रक्तवर्ण की प्रभा वाली, पीत रंग के ऊर्ध्वकेशों वाली, मुँह से रक्त बरसाने वाली तथा वीर्ययुक्ता अर्थात् शक्तिशालिनी क़े रूप में भावना करनी चाहिए। भगवान् की उत्पत्ति की पूर्णता के समय ये सभी योगिनियां क्षण भर में ही "हुँ" में पूर्णरूपेण परिणमित हो जायेंगी। इस प्रकार चौबीस देवियों सहित अपनी भावना करनी चाहितए। फिर चौबीस देवियों के द्वारा पूजित किये जाने पर कपाल के "पंचामृत भोग" की भावना करनी चाहिए। इसके पश्चात् चित्रसेना के पद्म पर "ओंकार" का तथा हेरूक के वज्र पर हुँ कार का मनन करके, चित्रसेना एवं भगवान् के पद्म तथा वज्र का योग

करें। तत्पश्चात् चौबीस देवियों के साथ भी काम–भोग करके महाराग पर अतिराग होने से, सब कुछ गलकर सूर्यमण्डल के मध्य में शुक्र के रूप में स्थित होता है। तब उस शुक्र को देखकर द्वारपालिकाऐं निम्नानुसार गीत गाती हैं। (यहाँ गीतों के हिन्दी अनुवाद को गद्यात्मक रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है–

सुन्दरी' की प्रार्थना इस प्रकार है–

"संसार के कान क्यों दबाते हैं, आप क्यों अप्रसन्न हैं?

यदि आप मेरे शब्द सुनरहे हो तो सम्पूर्ण अप्रसन्नता को त्याग दें।"

'वसुधारिणी' की प्रार्थना इस प्रकार है–

"शुन्य (समाहित) चित्त न होकर अपने अभिप्राय को सुकीर्तित करें। भव के भय से सम्पूर्ण जगत् प्रवांचित है। हे योगिनी मित्र! आप उठिये।"

'सुभगा' की प्रार्थना इस प्रकार है–

"हे आदि प्रधान! यदि आप शब्द सुन रहें हो तो कार्य की उपेक्षा न करें।"

आपके दृष्टिगोचर न होने से सम्पूर्ण जगत दुर्गति में पड़कर दुखी होगा।

'यशोदर्शना' की प्रार्थना इस प्रकार है–

"मिथ्या अहंकार न करके, कीर्तिशून्य स्वभाव को देखें।

सभी वस्तुओं का त्याग कर, योगिनी समूह का भोग करें।"

इस प्रकार के पश्चात उस शुक्र से "आ" कार तथा "हुँ" कार –इन दोनों के द्वारा 'कर्तृरी' तथा 'वज्र' उत्पन्न होते हैं। उस कर्तृरी तथा वज्र के माध्यम से एक मुखा, चतुर्भज, नीलवर्ण मुख, "हुँ" की ध्वनि करने वाले, पूर्व वर्णित लक्षणों से युक्त, अर्द्धपर्यंक नाट्यस्थ, भयंकर, क्रोधी स्वभाव वाले, व्याघ्र चर्म से आवृत, उनन्चास आर्द्रमुण्डों की माला पहिने हुए,

यज्ञोपवीतधारी, फैले हुए मुख वाले, परमउग्र तथा महाकारूणिक के प्रधान (हिरूक) की भावना निम्नानुसार करनी चाहिए–

"केयूर, कण्ठाभरण तथा वलय से विभूषित, नग्न, कटि में मेखला बाँधे हुए तथा पाँवों के आभूषणों से रूनझुन शब्द करते हुए प्रधान अर्थात् हेरूक "मार" अर्थात् "कामदेव" का प्रदमन करते हैं।

जटा–मुकुट से युक्त पंचबुद्धों के मुकुट वाले, अर्द्धचन्द्र धारी देवता अपने सिर पर स्थित 'विश्ववज्र' के भार से अवनत है।

चक्र, कुण्डल, कण्ठहार, कंकण, मेखला एवं मुद्राओं को धारण करने वाले प्रधान धूल के कणों से अवलिप्त, भयंकर तथा मुक्ताभूषित ललाट वाले हैं। वे अपनी वीरता से संसार को मुक्त करते हैं

"प्रधान की महाप्रज्ञा चित्रसेना योगिनी नग्न शरीर वाली, मुण्ड माला, अलंकार तथा यज्ञोपवीत से रहित, सम्पूर्ण सुखों से सम्पन्न, एकमुख, दो भुजाओं वाली, बिखरे हुए केशों वाली, श्वेत अंगों वाली, अत्यधिक फैले हुए मुखवाली, कुछ उत्कट दाँतों वाली, भयंकर स्वरूप वाली, एवं दाँयें हाथ में डमरूक अर्थात् चंगतिउ एवं कर्तृरी तथा बाँये हाथ में खट्वांग तथा कपाल धारण करने वाली है।"

ऐसी पारमिता देवी की भावना करनी उचित है।

इसके पश्चात अपने हृदय, मस्तक, मूर्धा, दोनों कन्धों तथा दोनों आँखों, गुह्यांग तथा सम्पूर्ण शरीर के सात स्थानों में निम्नलिखित मन्त्र का विधान करना चाहिए–

" ओं हाँ हैं हें हाँ हाँ हाँ"

हृदय में 'हुँ' से चित्तवज्र; कण्ठ पर 'आ' से वाग्वज्र, मूर्धा पर 'ओं' से कायवज्र (काय–वाक्–चित) को अधिष्ठित करके ज्ञानसत्व का आवाहन करें।

हृदय के चन्द्रमा पर स्थित 'हुँ' की प्रभास्वर 'अंकुश' के रूप में भावना करें।

"ओं बुद्धकपालिनी आ:खं ग्रं द्रं श्रूं अः अः अः हुँ हुँ हुँ फट्"– इस मन्त्र को विजृम्भण के साथ जप करके, ज्ञानसत्व को आकृष्ट करें। फिर उसे समयचित्त में समाहित कर पानी में दूध के विलय जैसी भावना करनी चाहिए।

इस प्रकार वीर को पूर्णतः देखकर, नाड़ीचक्र से स्त्रवित हाने वाले स्त्राव विविध योगिनियों के महावरूणा से युक्त, समस्त तथागतों के द्वारा अधि ाष्ठित विविध वस्त्र–धारिणी, युवा रूप में अलंकृत, द्वादश–वर्षीया आठ योगिनियों को उत्पन्न करके, आकाश की ओर स्थित हो बोधिचित्त के द्वारा परिपूर्ण आठ कुम्भों को आम्रपल्लवों से अलंकृत करते हुए, प्रसन्न तथा हास्य मुख से "हेरूक की जय" कहते हुए को, नाथ के द्वारा देखे जाने पर अभिषेक की विधि हेतु निम्नानुसार प्रार्थना करनी चाहिए।

"हे करूणामयी, हे परम यशस्विनी, हे वज्रयोगिनी! अब आप अभिषेक कीजिए। अभिषेक द्वारा मुझ संसार पंक में पड़े हुए को मुक्त करा दीजिए। जिस प्रकार पुत्रहीन घर में मृत्यु के बाद सब कुछ शून्य हो जाता है, उसी प्रकार अभिषेक के बिना मैं सभी ज्ञान से रहित हो जाऊँगा।"

इसके पश्चात् निम्नानुसार गुह्याभिषेक का निर्देश करते हैं–

"जिस प्रकार सभी अंगों से सम्पन्न होने पर भी तन्तु के होने से वीणा को नहीं बजाया जा सकता, उसी प्रकार अभिषेक के बिना मन्त्र तथा ध्यान सिद्ध नहीं हो पाते।"

निम्नानुसार प्रज्ञाज्ञानाभिषेक का निर्देश करते हैं–

"अभिषेक के न होने पर महादोष लगते हैं। यह भी कहा गया है कि जो मूढ़ अभिषक्त नहीं हैं, यदि वह यह कहता है कि 'मैं अभिषिक्त हूँ'

तो जब तक बुद्ध रहेंगे, तब तक वह अपने शिष्यों सहित नरकवास करेगा।"

उक्त वाक्य में अभिषेक रहित होने के दोष का निर्देश किया गया है। हे योगिनी! यह जानकर आप मुझे अभिषिक्त कीजिये, यदि अनुत्पाद अभिषेक है तो मुझे हेरूक में प्रवृत्त कर दीजिए।"

इसके उपरान्त योगिनियों ने "जय" कहकर भगवान् का स्नानाभिषेक किया। बाह्य तथा गुह्य अभिषेक मात्र से ही आकाश की ओर से दुन्दभी की ध्वनि एवं चन्दन तथा पुष्पों की वर्षा हुई। अभिषेक के उपरान्त योगिनयाँ नाड़ीचक्र में लीन हो जाएंगी। मंडल के सर्वचक्र को अपनी जाति के द्वारा मुद्रित करने के पश्चात् स्तवगान, पुष्प तथा पंचामृत द्वारा भगवान् की पूजा करनी चाहिए।

इसके पश्चात्(यं) के परिणित होने पर वायुमण्डल, उसके ऊपर (आं) के परिणत होने पर कपाल, तथा कपाल के मध्य में 'वि मू र शु मा' (अर्थात् विष्ठा, मूत्र, रक्त, शुक्र तथा मांस) के परिणत होने पर पंचामृत और 'गो कु द ह न' (गाय, कुत्ता दन्ति अर्थात् हाथी, हय अर्थात् घोड़ा और नर अर्थात् मनुष्य) इन पंच मांसों का मनन करना चाहिए। फिर वायु के द्वारा अग्नि प्रज्जवलित होने पर तथा अग्नि से कपाल को गर्म करने से वज्र रूपी भाव उत्पन्न होता है। फिर उसे शीतल करने के लिए कपाल के एक बालिश्त ऊपर 'ओं' के परिणत होने पर, 'ओं' के द्वारा अधिष्ठित अमृतस्वरूप चन्द्रमण्डल से हिम के समान अमृत गिरने पर वह शीतल हो जायेगा। इस प्रकार तीन तत्त्वों के द्वारा देवता को तृप्त करना चाहिए। फिर मण्डलचक्र की सदा ही स्वप्न और माया की भाँति भावना करनी चाहिए। नाभि पर "आ" हृदय पर "हुँ" कण्ठ पर "ओं" मस्तक पर ध्वनि और तिलक से युक्त अक्षय "हुँ" की भावना करनी चाहिए। भावना का स्वरूप निम्नानुसार है–

"पृथ्वी आदि चार महाभूतों से विभाजित एवं चार संधिकालों

पर अधिष्ठित, चार चक्र पद्मों से अद्भुत चार आनन्द, जोकि सदैव चार योगो पर आश्रित रहते हैं, श्रेष्ठ आनन्द स्वरूप से कार्य करने वाले हैं। हे श्रीरूपी वज्रसत्व! आप सुविधानुसार विलास करें।''

श्वास के आवागमन की भावना करने से वह लीन हो जाता है तथा महासुख उत्पन्न होता है। नाड़ीचक्र के आठ दलों में से दिशाओं के चार दल महाभूतों के स्वभाव वाले हैं। कोणों के चार पद्मदल पंचामृत के स्वभाव वाले हैं तथा पूजा के रूप में वहाँ स्थित हैं।

'वे काय, वाक् और चित्त के आठ गुने विभाजन से चौबीस हैं'– यह कहा गया है। यह वाह्यमण्डल चौबीस के स्वभाव का है। जिसके मध्य में भगवान् चित्रसेना के साथ विराजमान हैं। निर्माणचक्र के चौसठदलों के मध्य में ''ओं'' तिलक के रूप में है तथा हृदय चक्र के आठ दलों के मध्य में ''हुँ'' तिलक के रूप में है। ''ओं'' के ऊपर जाती हुई ज्योति–किरण तथा ''हुँ'' के नीचे आती हुई ज्योति किरण के मिलन–स्थल पर तिलक के रूप में लीन होने पर सुख प्राप्त होता है। इस प्रकार उत्पन्न तथा प्रवेश की भावना करें। छः महीने के अभ्यास से यह प्रयोग सिद्ध होता है, इसमें सन्देह नहीं है।

भावना के समय उद्वेग होने पर निम्नलिखित मन्त्र का जप करना चाहिए–

''ओं ह्रीं: बुद्ध हुँ कपालिनी आः''

प्रवेश में ''ओं'', उत्पन्न में ''ह्रीं'' तथा स्थिति में 'बुद्ध', सुख में 'हुँ', अस्त में 'कपालिनी' तथा उदित होने पर 'आः'– इस प्रकार से षड़ंगान्तरात्मक मन्त्र का जप करना चाहिए। इस की भावना के प्रयोग से 'बुद्ध हो जायेंगे, अन्यथा नहीं।' यह मूल मन्त्र है।–

''ओं बुद्ध कपालिनी ओं ह्रीं: हें हुँ फट्''– यह गर्भमन्त्र है।

"ओं कपालवज्रिणी हुँ हँ दुरक्ष्ये हुँ फट्"– यह उप–गर्भ मन्त्र है।

"ओं महाकपाल वज्रे चित्रि पुचत्रि अलम्बने प्रीणय सर्वभूतं मारय मारय सर्वमारान्, की लय सर्वदुष्टान्, उच्चाटय सर्वविघ्नानपि त्रय (त्रायस्व) भो भगवति! यक्ष रक्ष सपिशाचान् शोषय, त्रय (त्रायस्व) सप्तापातालगंतान्, सर सर प्रसर हुँ हुँ हुँ फट् फट् फट्"।

यह सभी भूतों का बलि मन्त्र है। चार प्रहर पर मण्डल का चार बार निर्माण करके यहाँ पर बलिदान करना चाहिए।

(बौ. का. सा. सा. पर साभार आघृत)

Sage seated in his meditation band, a cloth strap to support the body. South India, 17th century. Stone 19 (48)



२८

वस्त्रों पर निर्मित चित्र

बुद्ध–धर्म के अनुयाइयों में 'ठंका' चित्रों के निर्माण तथा उन्हें घर में रखने का विशेष प्रचलन है। खासकर तिब्बती बौद्ध–धर्म की किसी भी शाखा के अनुयायी के लिए अपने घर में भगवान बुद्ध के चित्र के अतिरिक्त अवलोकितेश्वर के रूपों, समाधिस्थ देवताओं, अस्सी सिद्धों, परम्परागत अथवा शाखा के गुरूओं, दलाई लामा, पणछेन लामा तथा मिलारेखा अथवा त्‌जोंग–का–पा के जीवन–चरित्रों से सम्बन्धित ठंका चित्रों को रखना अनिवार्य माना जाता है।

कपड़ों के ऊपर विभिन्न रंगों के मेल द्वारा तैयार किये गये भगवान बुद्ध अथवा बौद्ध धर्म के किसी भी देवी, देवता, धर्म गुरू अथवा जातक कथाओं आदि से संबंधित रंगीन चित्रों को "ठंका" कहा जाता है। तिब्बती ठंका चित्रों में शाक्यमुनि को मध्य में बैठाकर उन्हें जनता अथवा श्रमणों को उपदेश करते हुए दिखाया जाता है। चित्र में प्रदर्शित श्रोताओं अथवा भिक्षुओं की अपेक्षा उन्हें अधिक बड़े आकार में प्रदर्शित किया जाता है।

बौद्धधर्म क़ी महायान शाखा का ठंका चित्रों के निर्माण का मुख्य उद्‌देश्य बुद्धत्व को प्राप्त करना है। निजी धार्मिक क्रियाओं को पूर्णता देने के लिए भी इन चित्रों का निर्माण कराया जाता है। उदाहरण के लिए–किसी की मृत्यु होने पर उसके परिवारीजन सिद्धहस्त कलाकारों को, धर्म–गुरुओं के आदेशानुसार तथा धर्मग्रंथों पर आधारित ठंका चित्र बनाने का दायित्व इस कला के सिद्धहस्त चित्रकारों को सौंपा जाता है। इसके पीछे अगले जन्म में श्रेष्ठ योनि प्राप्त होने का विश्वास भी काम करता है। यही नहीं, पुर्नजन्म के समय किसी प्रकार की भौतिक तथा मानसिक व्याधियाँ समीप

न आयें तथा पुर्नजन्मित व्यक्ति स्वस्थ रहता हुआ दीर्घायु प्राप्त करें, इन उद्देश्यों के लिए भी ठंका चित्र तैयार कराये जाते हैं। इन आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए चित्र निर्माण का कार्य मृत्यु के ४६ वें दिन तक पूर्ण हो जाना आवश्यक होता है।

ठंका–चित्रों में चित्रित–देवताओं तथा कामना–विशेष के मध्य एक निश्चित सम्बन्ध परिलक्षित होता है; जैसे–अवरोधों को दूर करने तथा आठ प्रकार के भयों से मुक्ति पाने के लिए "तारा" का चित्रण कराया जाता है एवं दीर्घायु शुभलोक में स्थायी–निवास हेतु अमितायु के चित्र बनवाये जाते हैं। चित्रण पूरा हो जाने पर चित्र बनवाले वाले को उसका विशिष्ठ अनुष्ठान भी करना पड़ता है।

निजी–धार्मिक–क्रियाओं को पूर्णता देने के लिए भी ये चित्र बनवाये जाते हैं। बिना किसी लक्ष्य अथवा उद्देश्य के भी इन चित्रों का निर्माण किया/कराया जाता है। निष्काम भाव से निर्माण कराये गये चित्रों का सर्वश्रेष्ठ शुभ–कर्म माना जाता है, क्योंकि वे बुद्ध–मार्ग पर चलने के प्रतीक होते हैं।

सिद–पा–हो ठंका–चित्रों का प्रयोग लामाओं की अर्थियां निकालते समय तथा कन्या के विवाह के समय किया जाता है। घुमंतू (भ्रमणशील) त्बा–मा–मणि–या श्रेणी के उपदेशक भगवान बुद्ध के लीला–चरित्रों तथा चमत्कारों का वर्णन करते समय भी इन चित्रों का उपयोग करते हैं। इन चित्रों का संबंध सम्यक् सबुद्ध भगवान गौतम बुद्ध तथा चार तन्त्रों के अन्तर्गत आने वाले समाधिस्य देवताओं से है, जिनमें "तारा" तथा "अवलोकितेश्वर" भी सम्मिलित हैं।

प्रारम्भिक इतिहास

अनुश्रुति है कि एक बार डोडक के राजा उत्तरायण ने सम्राट् बिम्बसार के पास अमूल्य रत्नों का उपहार भेजा। सम्राट उसे पाकर अत्यन्त प्रसन्न

हुए। तदुपरान्त उन्होंने बदले में राजा को क्या भेजा, जाय, यह जानने के लिए जब अपने मन्त्रियों से मन्त्रणा की तो एक मंत्री ने भगवान् बुद्ध का चित्र भेजने की सलाह दी, सम्राट को यह सलाह बहुत पसन्द आई।

भगवान् बुद्ध उन दिनों वहीं विराजमान थे। अतः सम्राट् बिम्बसार ने उनसे प्रार्थना की कि वे चित्रकारों को उनका चित्र बनाने की स्वीकृति दे दें। भगवान ने सम्राट् की प्रार्थना स्वीकार करली, परन्तु जब चित्रकार उनका चित्र बनाने लगे, उस समय उनके शरीर से निकलने वाले दिव्य प्रकाश से चित्रकारों की आँखें चकाचौंध होगईं, जिसके कारण चित्र बनाना असंभव हो गया। परन्तु सौभाग्य की एक बात यह भी थी कि भगवान उस समय जलाशय के किनारे बैठे हुए थे, जिसके जल की सतह पर उनका प्रतिबिम्ब झलक रहा था। चित्रकारों ने उसी प्रतिबिम्ब का आश्रय लेकर भगवान का चित्र तैयार कर लिया, जिसे बाद में सम्राट ने राजा उत्तरायण को प्रति–उपहार के रूप में भिजवा दिया। राजा उत्तरायण उसे पाकर धन्य होगये। तिब्बत में उस चित्र को "चूलुंग–या अर्थात् जल–बुद्ध के नाम से सम्बोधित किया जाता है।

एक अन्य प्रचलित कथा के अनुसार–श्रीलंका के राजा मूतिक श्री शिंग की पुत्री भगवान् बुद्ध से बहुत प्रभावित थी। एक बार उसने भगवान् के लिए उपहार के रूप में बहुमूल्य मोतियों की एक विशाल राशि भेजी। तब भगवान् ने राजकन्या पर प्रसन्न होकर एक वस्त्र के ऊपर अपने शरीर से निकलने वाली असंख्य किरणों को छोड़ा, जिसके कारण उस बस्त्र पर भगवान् की छाया–आकृति निर्मित हो गई। तत्पश्चात् उसी आकृति को विभिन्न रंगों से चित्रित करवा कर राजकन्या के पास भेज दिया गया। इस चित्र को तिब्बत में "युपाओजेयी" अर्थात् "आलोकित–बुद्ध" कहा जाता है।

ईसा से दो शताब्दी पूर्व "भरहुत" में वस्त्र–खण्डों पर जातक–कथाओं

का चित्रण करने का विशेष प्रचलन था। भगवान बुद्ध ने जातक कथाओं के साथ ही अवदान कथाओं को भी अपने उपदेश का अंग बनाया था। इन कथाओं के चित्रण से चित्रित वस्त्र आगे चलकर अन्य ठंका–चित्रों की प्रेरणा बने। इससे सिद्ध होता है कि यथार्थ में यह कला भारत से ही तिब्बत पहुँची थी। तिब्बत के समान ही प्राचीन भारत में ठंका–चित्रण की गणना दस विज्ञानों में से एक के रूप में की जाती थी।

ठंका–चित्रों के निर्माण की प्रक्रिया अत्यन्त जटिल होती है। "पक्सम त्रिशिंग"– जिसमें कि भगवान् बुद्ध के चमत्कारों को प्रदर्शित किया जाता है,का चित्रण करना बहुत कठिन होता है। ऐसे चित्रों का निर्माण करते समय पृष्ठभूमि, आकृति एवं पक्षियों आदि के अनुपात पर विशेष ध्यान दिया जाता है। "पक्सन त्रिशिंग" के चित्र समूह में भगवान् बुद्ध के चमत्कार, उनकी आत्यिक शक्तियाँ तथा बोधिसत्वों के रूप में उनके पूर्व जन्मों के धर्मचक्र आदि का चित्रण किया जाता है। इन चित्रों की विषय–वस्तु को प्राचीन भारतीय तथा तिब्बती–बौद्ध विद्वानों द्वारा सुनिश्चित किया जा चुका है, जिनका चित्रण करने में लगभग १०० फलकों की आवश्यकता पड़ती है, अतः ऐसे चित्रों का चित्रण–कार्य एक साथ कई चित्रकार मिलकर करते हैं। इन चित्रों को दलाईलामा के प्रासादों तथा बौद्ध–विहारों की सज्जा में प्रयुक्त किया जाता है।

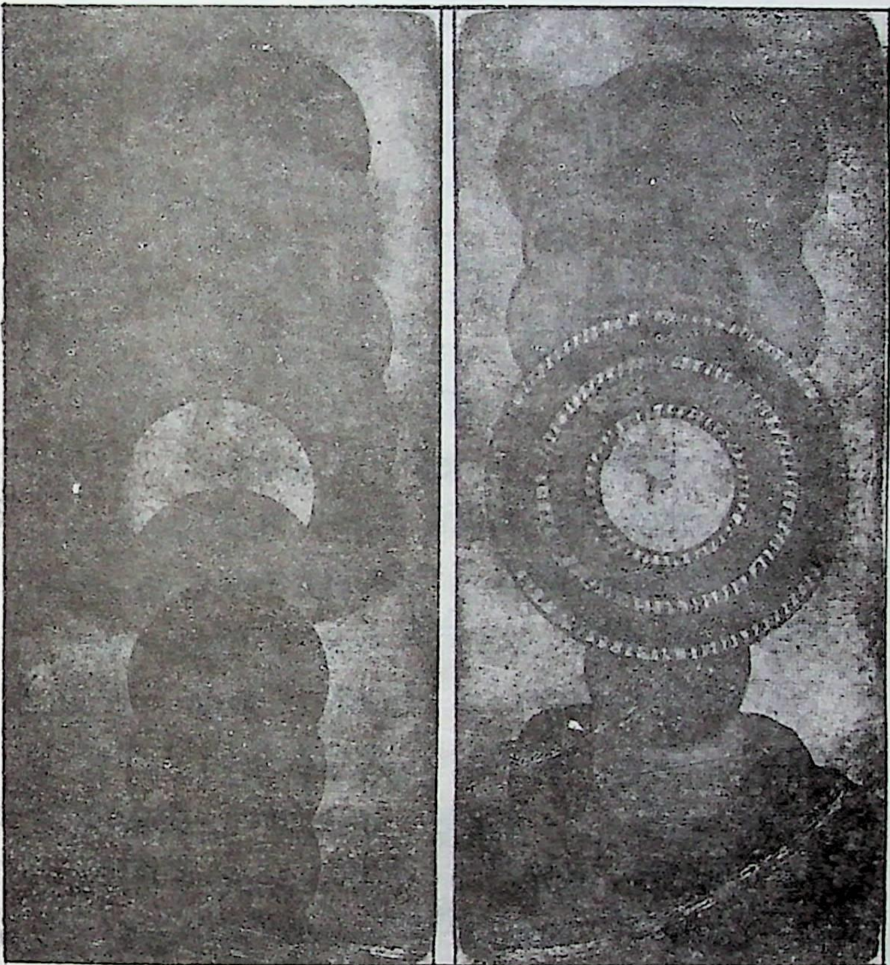
बौद्ध–धर्म तथा दर्शन के अनेक प्रतीकों–स्तूप, चक्र, पद्य, बोधिवृक्ष, रिक्त सिंहासन, चरण कलम, स्तम्भ आदि इन चित्रों के अनिवार्य अंग होते हैं। बुद्ध–धर्म के ग्रंथों–चक्रासवा, सारियुक्तसूत्र, क्रियासमुच्चय तथा कौशलंकारसूत्र आदि ग्रंथों में इन चित्रों में चित्रित किये जाने वाले शान्ति–प्रिय तथा कष्टप्रद देवताओं के आकार–प्रकार तथा अनुपात आदि का वर्णन भी किया गया है।

कुछ ठंका चित्रों का प्रेरणा योगियों को यौगिक–क्रियाओं के सम्पादन

अथवा समाधि के समय मिली थीं— प्राचीन ग्रंथों में ऐसे उल्लेख भी पाये जाते हैं। ऐसे उदाहरण भी मिले हैं कि कुछ महान् चित्रकारों को स्वयं ही स्वप्न में चित्र–दर्शन हुआ और बाद में स्वयं उन्होंने उन स्वप्त चित्रों को मूर्तरूप भी प्रदान किया।

****

Two from a set of thirteen leaves from a manuscript illustrating the processes of projective-evolution of the Universe. Western India, *c.* 1700. Gouache on paper 10×5 (25×13)



२६

चर्या पद

१

नगर बाहिरे रे डोम्बि तोहोरि कुडिआ।
छोइ छोइ जाहि सो ब्राह्मण नाडिया।।
आलो डोम्बि तोए सम करिबो मो सांग।
निघिन का कापालि जोइ लांग।। ध्रवपद।।
एक सो पदुमा चाष्ठी पाखडी।
तहिं चड़ि नाचअ डोम्बि बापुडी।।२।।
हालो डोम्बी तो पूछमि सद्भावे।
आइससि जासि डोम्बि काहारि नावें।।३।।
तान्ति विकणअ डोम्बी अवर ना चांगेडा।
तोहोर अन्तरे छाडि नंइ पेड़ा।।४।।
तुलो डोम्बी हाउं कपाली।
तोहोर अन्तरे मोए घेणिलि हाडेरि माली।।५।।
सरोवर भांजिअ डोम्बी खाअ मालाण।
मारमि डोम्बी लेमि पराण।।६।।

२

नाडि शक्ति दिढ धरिअ खाटे।
अनहा डमरू बाजइ वीरनादें ।।१।।
काहू कपाली योगी पइठ अचारे।
नेह अअरी विहरइ एकाकारे।।ध्रुवपद।।
आलि कालि घण्टा नेउर चरणे।
रवि शशि कुण्डल किउ आभरणे।।२।।

राग द्वेष मोह लाइअ छार।
परम मोख लवए मुक्तिहार।।३।।
मारिअ सास नणन्द घरे शाली।
माअ मारिआ काहू भइल कबाली।।४।।

३

तिणि भुवन मइ वाह्अि ले हेले।
हांउ सुतेलि महासुख लीलें।।१।।
कइसनि हालो डोम्बी तोहोरि भाभरिआली।
अन्ते कुलिण-जण माझें कावाली।। ध्रुवपद।।
तइ लो डोम्बी सअल विटालिउ।
काजण कारण ससहर टालिउ।। २।।
केहो केहो तोहोरे बिरूआ बोलइ।
बिदुजन लोअ तोरें कण्ठ न मेलइ।।३।।
काहू गाइ तू कामचण्डाली।
डोम्बीत आगलि नाहि च्छिनाली।।४।।

४

भवनिर्वाणे पडह-मादला।
मण-पवण वेणि करण्ड-कसाला।। १।।
जअ जअ दुंदंभि साद उछलिआ।
काहू डोम्बी विवाहे चलिआ।।ध्रुवपद।।
डोम्बी विवाह्अिा आहारिउ जाम।
जउतुके किअ आणुतु धाम।।२।।
अहणिसि सुरअ- पसंगे जाअ।
जोइणि-जाले रअणि पोहाअ।।३।।
डोम्बीएर संगे जो जोइ रत्तों।
खर्ण खडइ न छाडअ सहज उन्मत्तों।।४।।

५

आलो डोम्बि तोए सम करिवो मो सांग।
निघिन काण्ह कापालि जोइ लांग।।१।।
एक सो पदुमा चोषठी पाखुड़ी।
तहिं चाड़ि नाचअ डोम्बी वापुड़ी।।२।
तु लो डोम्बी हांउ कपाली।
तोहोर अन्तरे मोए घेणिलि हाड़ेरि माली।।३।।

६

अनहा डमरू बाजइ वीरनादे।
कान्ह कपाली योगी पइठ अचारे।।१।।
आलि आलि घण्टा नेउर चरणे।
रवि शशि कुण्डल किउ आभरणे।।२।।
राग द्वेष मोह लाइअ छर।
परम मोख लवए मुत्तिहार।।३।।

७

भव निर्वाणे पड़ह मादला।
मण पवण वेणि करण्ड-कसाला।।१।।
जअ-जअ दुन्दुभि साद उछलिला।
कान्ह डोम्बी विवांहे चलिला।।२।।
अहणिसि सुरअ-पसंगे जाअ।
जोइणि- रअणि पोहाअ।।३।।
डोम्बीएर संगे जो जोइ रत्तो।
खणइ न छाड़अ सहज उन्मत्तो।।४।।

****

